लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[षष्ठ भाग]

(स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्)

भीमसेन शास्त्री

भैमी प्रकाशन

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[षष्ठ भाग]

(स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्)
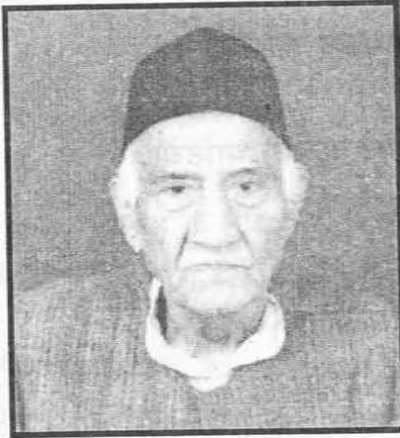
भीमसेन शास्त्री

एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006

प्रकाशक :
नचिकेता भाटिया
18/99, गीता कालोनी
दिल्ली-110031

LAGHU-SIDDHĀNTA KAUMUDĪ-BHAIMĪ VYĀKHYĀ
Part VI, Third Edition 2009.

लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या
षष्ठ भाग, तृतीय संस्करण 2009

मूल लेखक : भीमसेन शास्त्री (1920-2002)

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
पी.जी. डी. ए. वी. कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली
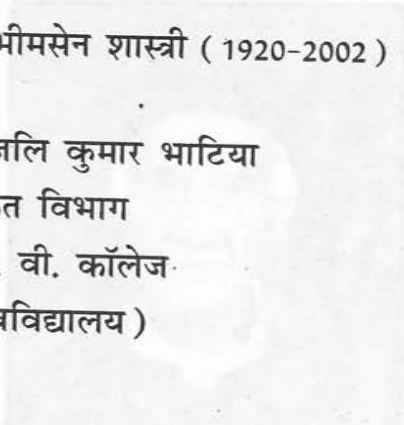
मुख्य वितरक :
भैमी प्रकाशन
537, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-110006

मूल्य : एक सौ पचास रुपये केवल
Price : Rs. One Hundred Fifty only.

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

व्याकरण-प्रशस्तिः

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।
प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् ।
प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।।

(पातञ्जलमहाभाष्ये)

यद्यपि बहु नाऽधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ।।

शब्दशास्त्रमनधीत्य यः पुमान्
वक्तुमिच्छति वचः सभान्तरे ।
रोद्धुमिच्छति वने मदोत्कटं
हस्तिनं कमल-नाल-तन्तुना ।।

भैमीव्याख्योपेताया

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

स्त्रीप्रत्ययप्रकरणस्य विषय-सूची

——:०:——

आत्मनिवेदनम्

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की सुप्रसिद्ध भैमीव्याख्या का यह अन्तिम (षष्ठ)[1] भाग आज जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इस व्याख्या का प्रणयन सन् १९४१ में प्रारम्भ हुआ था। आज ४८ वर्षों के बाद इस का अन्तिम खण्ड प्रकाश में आ रहा है। जब इस व्याख्या का प्रारम्भ हुआ था तब लेखक की वयः २०-२१ वर्षों की थी। आज लगभग सत्तर वर्षों की वयः में यह व्याख्या समाप्त हो रही है। इस अन्तराल में लेखक का स्वाध्याय तथा अध्ययन-अध्यापन सतत चलता रहा। देश-विभाजन तथा अन्य कई अनिवार्य आर्थिक बाधाओं के कारण इस व्याख्या के कुछ खण्डों का प्रकाशन बीच बीच में पर्याप्त विलम्ब से होता रहा। लेखक के स्वाध्याय तथा अध्ययन-अध्यापन से अर्जित ज्ञानसामग्री इस व्याख्या के विभिन्न भागों में बरा-बर संकलित होती चली गई। आज इस व्याख्या का जो स्वरूप है वह शायद पहले न हो पाता। इस काल में इस व्याख्या के पूर्वप्रकाशित प्रथम भाग को भी संशोधित तथा अनेक टिप्पणों से उपबृंहित कर नवीन द्वितीय संस्करण निकाला गया जो सामग्री और आकार में प्रथमसंस्करण से पर्याप्त समृद्ध है। इस में भी लेखक ने अपने नवीन-तम अनुभवों का सार भर देने का पूरा पूरा प्रयास किया है।

व्याख्या का प्रकृत भाग स्त्रीप्रत्ययों से सम्बद्ध है। संस्कृतभाषा में शब्दों का लिङ्गनिर्णय अतीव दुष्कर कार्य है। इस में पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक का निर्णय अन्य भाषाओं की तरह नहीं किया जाता। स्त्रीवाचक दारशब्द यहां पुंलिङ्ग है जबकि अन्य वनिता, योषित् आदि स्त्रीलिङ्ग हैं। जलवाचक अप्शब्द स्त्रीलिङ्ग है जबकि वारि, तोय आदि नपुंसक हैं। शरीरवाची कायशब्द पुंलिङ्ग है जबकि तनुस् स्त्रीलिङ्ग तथा शरीर नपुंसकलिङ्ग है। देवतावाचक अमर, निर्जर आदि शब्द पुंलिङ्ग है जबकि देवताशब्द स्वयं स्त्रीलिङ्ग है। मित्रवाचक सुहृद्शब्द पुंलिङ्ग है जबकि मित्रशब्द स्वयं नपुंसक है। नेत्रवाचक लोचन, अक्षि आदि शब्द नपुंसक हैं जबकि दृश् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतः संस्कृत में लिङ्गों का ज्ञान सर्वथा शिष्टप्रयोगों की परंपरा पर ही निर्भर करता है। इसी को दर्शाने के लिये ही अष्टाध्यायी के कतिपय लिङ्गसम्बन्धीसूत्रों तथा पाणिनीयलिङ्गानुशासनीय सूत्रों में यत्न किया गया है।

संस्कृत में पुंलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग बनाने के लिये प्रातिपदिकों के आगे कोई प्रत्यय जोड़ा नहीं जाता, केवल स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये ही प्रत्यय जोड़े जाते हैं (वे भी सब शब्दों से नहीं)। अतः स्त्रीप्रत्ययप्रकरण ही प्रक्रियाग्रन्थों में पृथक् दर्शाया जाता है पुंलिङ्गप्रत्ययप्रकरण या नपुंसकप्रत्ययप्रकरण नहीं।

स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द प्रायः पाञ्च श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

---

१. इस व्याख्या के चार भाग (प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ) पहले प्रकाशित हो चुके हैं। अब क्रमप्राप्त पञ्चम भाग (तद्धितप्रकरण) न छाप कर परीक्षार्थी विद्यार्थियों के तीव्र अनुरोध के कारण षष्ठ भाग (स्त्रीप्रत्ययप्रकरण) पहले प्रका-शित किया जा रहा है। यह भाग इस व्याख्या का अन्तिम भाग है। पञ्चमभाग भी प्रेस में दिया जा रहा है आशा है इसी वर्ष प्रकाशित हो जायेगा।

[१] जातिलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

जब जाति एक होते हुए उस जाति के स्त्रीव्यक्ति को निर्दिष्ट करना अभीष्ट होता है तो वहां जातिलक्षणस्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में ङीष् प्रत्यय प्रमुख है। ङीन् आदि कुछ अपवाद प्रत्यय भी हैं। यथा--हयी, गवयी, मुकयी, मनुषी, मानुषी, मत्सी, ब्राह्मणी, शार्ङ्गरवी, बैदी, कठी, तटी, नारी आदि। 'जाति' से यहां पारिभाषिक जाति का ग्रहण किया जाता है, लौकिक जाति का नहीं। इस विषय में यह कारिका सुप्रसिद्ध है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

इस कारिका की व्याख्या इस ग्रन्थ के पृष्ठ (७०) पर की गई है वहीं देखें।

[२] पुंयोगलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

शिष्टप्रयोगानुसार जब पति (पुरुष) के कारण उस की स्त्री का नाम वैसा ही पड़ जाता है तब वहां पुंयोग में स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में ङीष् प्रत्यय प्रमुख है। चाप् आदि कुछ अपवाद प्रत्यय भी किये जाते हैं। उदाहरण यथा—गोपस्य स्त्री—गोपी। गोपालकस्य स्त्री—गोपालिका। अश्वपालकस्य स्त्री—अश्वपालिका। वरुणस्य स्त्री—वरुणानी। इन्द्रस्य स्त्री—इन्द्राणी। भवस्य स्त्री—भवानी। सूर्यस्य स्त्री—सूर्या, सूरी। मातुलस्य स्त्री—मातुलानी। श्वशुरस्य स्त्री—श्वश्रूः आदि। कहीं कहीं पिता या भाई के कारण भी पुत्री या बहन का नाम प्रसिद्ध हो जाता है, वहां पर भी पुंयोग में स्त्रीप्रत्यय समझना चाहिये। यथा—केकयस्य दुहिता—कैकेयी। देवकस्य दुहिता—देवकी। रेवतस्य दुहिता—रेवती। श्यालस्य भगिनी—श्याली। यमस्य भगिनी—यमी आदि।

[३] स्वाङ्गलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

जब समास के अन्त में कोई स्वाङ्गवाची शब्द आ जाता है तब स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये उस से परे स्वाङ्गलक्षण स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में वैकल्पिक ङीष् (पक्षे टाप्) प्रत्यय प्रमुख है। कई स्थलों पर केवल टाप् प्रत्यय भी हुआ करता है। निदर्शनार्थ उदाहरण यथा—चन्द्र इव मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। चन्द्रानना। शूर्पणखा। शूर्पनखी, शूर्पनखा। ताम्रमुखी, ताम्रमुखा। अतिकेशी, अतिकेशा। कल्याणक्रोडा। सुहस्ता। स्वाङ्ग भी यहां पारिभाषिक लिया जाता है, लौकिक नहीं। जैसाकि कहा है—

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

इस कारिका की व्याख्या इस ग्रन्थ के पृष्ठ (६२) पर की गई है वहीं देखें।

[४] साधारणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

जब उपर्युक्त तीनों कोटियों में न आने वाले शब्दों अर्थात् व्यक्तिवाचकों, विशेषणों, सर्वनामों, वयोवाचकों, गुणवाचकों आदि से स्त्रीलिङ्ग बनाना अभीष्ट होता है तब वहां टाप्, ङीप् आदि विविध प्रत्यय किये जाते हैं। यथा—गङ्गा, नदी, खट्वा, सर्वा, एषा, भवती, कुमारी, तरुणी, कर्त्री, गौरी, पट्वी, मृद्वी, संहितोरूः, वामोरूः, युवतिः, धनक्रीता आदि।

[५] विविधार्थकस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

कुछ एक शब्दों से विविध अर्थों के द्योतन के लिये भी स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। यथा—दुष्टो यवो यवानी। महद् हिमं हिमानी। महद् अरण्यम् अरण्यानी। यवनानां लिपिः यवनानी आदि।

संस्कृतव्याकरण के पाठकों को यह बात मन से निकाल देनी चाहिये कि प्रत्येक स्त्रीलिङ्गीशब्द का पुंलिङ्गरूप एवं हर एक पुंलिङ्गशब्द का स्त्रीलिङ्गरूप हुआ करता है। क्योंकि अनेक ऐसे शब्द हैं जो केवल स्त्रीलिङ्ग या पुंलिङ्ग आदि में प्रयुक्त होते हैं। यथा—सम्पद्, विपद्, स्त्री, शिखा, रात्रि, नौका, खट्वा, मेधा, बलाका आदि शब्द केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, इन का पुंलिङ्गरूप नहीं होता। इसीतरह—पाकः, भागः, पाठः, रागः, महिमा, तनिमा आदि शब्द केवल पुंलिङ्ग में ही हुआ करते हैं, इन का स्त्रीलिङ्ग रूप नहीं होता। स्त्रीप्रत्ययों के लाने से ही शब्द स्त्रीलिङ्ग बनते हैं—यह बात भी नहीं है। अनेक शब्द विना स्त्रीप्रत्ययों के भी स्वतः स्त्रीलिङ्ग के द्योतक होते हैं। यथा—आप्, गिर्, पुर्, दिश्, वाच्, दृश्, सम्पद्, विपद् आदि शब्द विना स्त्रीप्रत्ययों के भी स्त्रीत्व को प्रकट करते हैं। अतः किस से स्त्री-प्रत्यय करना चाहिये और किस से नहीं—यह सारी व्यवस्था शिष्टप्रयोगों पर आश्रित व्याकरण के नियमों के अनुसार ही समझनी चाहिये।

प्रस्तुत भाग में स्त्रीप्रत्ययविधायक मूलोक्त सूत्रों, वार्त्तिकों वा गणसूत्रों की व्याख्या के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र-वार्तिकों की सार्थ सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है ताकि विद्यार्थियों के सामान्यज्ञान का स्तर ऊँचा रहे। पूर्व भागों की तरह इस भाग में भी सूत्रों की वही व्याख्याशैली, स्थान स्थान पर उठने वाली शङ्काओं का समाधान, प्रत्येक रूप की सिद्धि, उदाहरणों की झड़ी, पाठशोधन तथा विषय के स्पष्टीकरणार्थ दरजनों टिप्पण दिये गये हैं। उदाहरणों के अर्थ तथा उन के साहित्यगत प्रयोगों को भी ढूंढ ढूंढ कर दर्शाने का पूरा प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में पचास से अधिक पृष्ठों में नौ परिशिष्ट दिये गये हैं। वैसे तो ये सब परिशिष्ट छात्रों के लिये तथा शोधार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्धक हैं पर इन में चार परिशिष्ट साधारण छात्रों के लिये भी लाभप्रद हैं। **शुद्धाऽशुद्धबोधकशतकम्** नाम वाले प्रथम परिशिष्ट में स्त्रीप्रत्ययों के विषय में विद्यार्थियों को सावधान एवं चौकन्ना रखने के लिये शुद्धाशुद्धमिश्रित प्रायः स्वनिर्मित एक सौ पद्यखण्ड दिये गये हैं जिन में स्त्रीप्रत्ययान्त अनेक पदों के शुद्धाशुद्धत्व का परीक्षण करना है। विद्यार्थियों के सौकर्य के लिये इन पद्यांशों के नीचे प्रत्येक पद का साधुत्व वा असाधुत्व सहेतुक एवं सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है। इन के अभ्यास से विद्यार्थियों को निश्चय ही अशुद्धियों के पकड़ने में महती निपुणता प्राप्त हो सकती है। **स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगतोदाहरणतालिका** नामक चतुर्थ परिशिष्ट में प्रकृतखण्ड में उदाहरणरूप से निर्दिष्ट प्रायः छः सौ रूपों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। प्रत्येक रूप के आगे कोष्ठक में उस से होने वाले स्त्रीप्रत्यय को निर्दिष्ट किया गया है। आगे उस उदाहरण की पृष्ठसंख्या भी दे दी गई जिस से विद्यार्थी उस स्थल को निकाल कर तुरन्त हृदयङ्गम कर सकें। स्त्री-प्रत्ययों के विधान में प्रायः विद्यार्थी ङीप्-ङीष्-ङीन् प्रत्ययों के करने में भूल कर दिया करते हैं। इस के लिये **स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि** के अन्तर्गत अष्टम परिशिष्ट में प्रत्येक स्त्रीप्रत्यय के नीचे तत्तद्विधायक सूत्रों को पृथक् पृथक् निर्दिष्ट कर दिया है। इस से विद्यार्थी

अपनी भूल को तुरन्त सुधार सकते हैं। **संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्** के अन्तर्गत नवमपरिशिष्ट में पाणिनीयलिङ्गानुशासन के प्रसिद्ध प्रसिद्ध एक सौ सूत्रों की हिन्दी भाषा में सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है जिस से छात्र लिङ्गानुशासन-विषयक अत्युपयोगी क्षेत्र का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकें। सम्भवतः लघु-सिद्धान्त-कौमुदी पर इस प्रकार का यह प्रथम यत्न है। प्रबुद्ध और उत्साही विद्यार्थियों के बोध के लिये **स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** इस पञ्चम परिशिष्ट के अन्तर्गत पाणिनीयाष्टाध्यायीस्थ स्त्रीप्रत्ययों का समग्र प्रकरण भी दे दिया है ताकि वे इसे कण्ठस्थ कर सदा के लिए लाभ उठा सकें। इन के अतिरिक्त **विशेषद्रष्टव्य-स्थलतालिका** नामक षष्ठ परिशिष्ट शोधार्थियों एवम् अध्यापकगण के लिये तथा **विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला** नामक सप्तम परिशिष्ट समस्त होनहार छात्रों के लिये परम उपयोगी है। द्वितीय तथा तृतीय परिशिष्टों में ग्रन्थगत समस्त सूत्रों, वार्त्तिकों तथा गणसूत्र आदियों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। इस प्रकार इस खण्ड के परिशिष्ट अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे।

इस खण्ड के प्रणयन में भी सब से अधिक योगदान तो मेरे सतत उपचीयमान विशाल पुस्तकालय का है जिस में व्याकरण के शतशः दुर्लभ और सुलभ ग्रन्थ संगृहीत हैं। सच तो यह है कि यदि यह पुस्तकालय मेरे पास न होता तो निश्चय ही इस ग्रन्थ का प्रणयन ही न हो सका होता।

इस खण्ड के प्रूफसंशोधन में अथाह परिश्रम किया गया है। मेरे तृतीय पुत्र **अश्विनी शास्त्री** का भी इस में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। परन्तु फिर भी दृष्टि-दोष के कारण कहीं कहीं अशुद्धियां रह गई हैं (यथा—पृष्ठ २० पर **वयस्यचरमे** के स्थान पर **वयस्यप्रथमे** ऐसा अशुद्ध वार्त्तिक छप गया है)। आशा है पाठक अपने उदारभाव से क्षमा करने की कृपा करेंगे।

यह है सब कुछ—जो मुझ से बन सका है। पाठक ही मेरे ग्रन्थों की सदा से कसौटी रहे हैं और रहेंगे भी। इतना कहकर विरत होता हूँ—

सुरभारती का तुच्छ समुपासक

भीमसेन शास्त्री

शास्त्रिसदनम्,

९/६४४२, मुकर्जी गली

गांधीनगर, दिल्ली—११००३१

पौषबदी ९, सम्वत् २०४५ (वै०)

१.१.१९८९ (ई०)

ॐ

श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

* लघु-सिद्धान्त-कौमुदी *

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[षष्ठो भागः]

———:o:———

जीवनं सर्वजीवानां गतिं गतिमतां सदा ।
प्राणभूतं परं पूज्यं प्रपद्ये परमं पदम् ॥१॥
षाष्ठेऽस्मिंल्लघुकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषिते ।
भागे स्त्रीप्रत्ययाः सर्वे विव्रियन्तेऽधुना मया ॥२॥
पूर्ववद् गौरवं यायात् कृतिर्मे विदुषां हृदि ।
यतस्ते निकषीभूता ग्राह्याग्राह्यविवेचने ॥३॥

———:o:———

अथ स्त्रीप्रत्यय-प्रकरणम्

अब स्त्रीप्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। यह प्रकरण कृदन्त, समास और तद्धितों को समझे विना ठीक तरह से बुद्धिगम्य नहीं हो सकता, अतः उन सब प्रकरणों के अनन्तर इस प्रकरण को रख कर वरदराज ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने रामचन्द्राचार्यप्रणीत प्रक्रिया-कौमुदी को आधार बना कर अपनी सिद्धान्तकौमुदी में प्रायः प्रकरणों का विन्यास किया है। सिद्धान्त-कौमुदी और प्रक्रियाकौमुदी दोनों में स्त्रीप्रत्ययप्रकरण को समास, तद्धित और कृदन्त प्रकरणों से पूर्व रखा गया है। इस से विद्यार्थियों को विषय समझने में पदे पदे कठिनाई का कटु अनुभव होता है। क्योंकि विना समासप्रकरण को समझे स्त्रीप्रत्यय-

प्रकरण में **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४), **द्विगोः** (१२५७), **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४), **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (१२७३) आदि सूत्रों को हृदयङ्गम कर सकना बहुत ही कठिन है। इसीप्रकार तद्धित और कृदन्त प्रकरणों के ज्ञान के विना **टिड्ढाणञ्०** (१२५१), **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१), **कृदिकारादक्तिनः** (गणसूत्र), **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) आदि स्थलों को समझा नहीं जा सकता। यही अवस्था **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुंपः** (१२६२) आदि सूत्रस्थ उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों की समझनी चाहिये। सिद्धान्तकौमुदी की इस त्रुटि को लघुसिद्धान्तकौमुदी में न दोहरा कर वरदराजाचार्य ने स्तुत्य कार्य किया है।

अब सब से प्रथम सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में व्यापृत होने वाले पाणिनीय अधिकारसूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(१२४८) **स्त्रियाम्** ।४।१।३।।

अधिकारोऽयं 'समर्थानाम्०' (४.१.८२) इति यावत् ।।

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४.१.८२) सूत्र से पूर्व तक 'स्त्रियाम्' का अधिकार रहेगा, अर्थात् वहां तक जिस जिस प्रत्यय का विधान किया जायेगा वह स्त्रीत्व के द्योतन में ही होगा।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। प्रातिपदिकात् ।५।१। (**ङ्याप्प्रातिपदिकात्** से 'प्रातिपदिकात्' अंश का अधिकार सम्पूर्ण प्रकरण में चला आ रहा है)। **प्रत्ययः, परश्च**—ये दोनों पीछे से अधिकृत हैं ही। यह अधिकारसूत्र है। अधिकारसूत्रों की अवधि निश्चित हुआ करती है। इस सूत्र की अवधि अष्टाध्यायी में **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४.१.८२) सूत्र तक है। **स्त्रियाम्** यह भावप्रधान निर्देश है, इस का तात्पर्य है—'स्त्रीत्वे' (स्त्रीत्व में)। अर्थः—यहां से ले कर **समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र तक जिन प्रत्ययों का विधान किया जाये वे प्रत्यय (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्=स्त्रीत्वे) स्त्रीत्व की विवक्षा में होते हैं। टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन्, ऊङ् और ति—ये आठ प्रत्यय इस अधिकार में कहे गये हैं[1]। ये सब स्त्रीत्व के द्योतक हैं। संस्कृतवैयाकरणों के अनुसार लिङ्ग भी प्रातिपदिक के अर्थ में ही सम्मिलित होता है। स्त्रीप्रत्यय केवल उसे द्योतित करते हैं, अत एव अनेक शब्दों में स्त्रीप्रत्ययों के विना भी स्त्रीत्व का बोध स्वतः ही हुआ करता है। यथा—वाच्, गिर्, पुर्, दृश् आदियों में स्त्रीत्वद्योतक प्रत्यय के विना भी स्त्रीत्व का बोध स्वतः होता है। तात्पर्य यह है कि यह जरूरी नहीं कि स्त्रीप्रत्यय के होने पर ही स्त्रीत्व का बोध हो, स्त्रीत्व का बोध प्रत्यय के विना भी कई जगह हो सकता है। परन्तु टाप् आदि प्रत्ययों के होने पर अवश्य स्त्रीत्व का बोध होता है—यह नियम है।

---

१. **टाप्-डाप्-चापस्त्रयोऽप्येते ङीप्-ङीष्-ङीन्प्रत्ययैः सह।**
ऊङ्-तिभ्यां मिलिताश्चापि सन्त्यष्टौ प्रत्ययाः स्त्रियाम् ॥

स्त्रीत्व क्या है ? सर्वप्रथम इसे समझना जरूरी है। लोक में स्त्रीत्व आदि का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥

अर्थात् स्तनों और केशों के अतिशय से युक्त स्त्री होती है, लोमों के अतिशय से युक्त पुरुष होता है[1]। जब दोनों का अभाव अर्थात् अपूर्णता रहती है तो उस बीच की स्थिति को नपुंसक कहते हैं। परन्तु लिङ्गों का यह लौकिक लक्षण खट्वा, माला, तट, घट, पट आदि जड़ पदार्थों पर घटित नहीं हो सकता अतः व्याकरण में इस का आश्रय नहीं किया जाता। वैयाकरणों का कहना है कि सांख्यशास्त्रोक्त सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का ही विपरिणाम प्रत्येक पदार्थ हुआ करता है। जब गुणत्रयात्मक किसी पदार्थ में इन गुणों का प्रसव=आविर्भाव=उपचय या वृद्धि कहनी अपेक्षित होती है तब पुंलिङ्ग, जब संस्त्यान=अपचय या ह्रास कहना अपेक्षित होता है तब स्त्रीलिङ्ग तथा जब केवल स्थितिमात्र कहनी अपेक्षित होती है तब नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है[2]। परन्तु यह विवक्षा अस्मदादि प्रयोक्ताओं के आश्रित नहीं होती, इस के नियामक तो शिष्ट लोग ही होते हैं। उन की विवक्षा को ही व्याकरण, लिङ्गानुशासन या कोष आदियों में निबद्ध किया गया है। यही हमें अनुसर्त्तव्य है, स्वेच्छा से कुछ नहीं। यही कारण है कि कुछ शब्द दो लिङ्गों या तीनों लिङ्गों में भी प्रयुक्त हुआ करते हैं। सार यह है कि संस्कृतभाषा में लिङ्गों का निर्णय सर्वथा शिष्ट प्रयोगों पर आश्रित व्याकरण आदि के नियमों से ही हुआ करता है, मनमाने ढंग या लौकिक ढंग से नहीं।

अब सब से प्रथम स्त्रीप्रत्ययों में सुप्रसिद्ध टाप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. वैयाकरणैर्भाष्योक्तोऽयं श्लोक इत्थं व्याख्यायते—
स्तनकेशवतीत्यत्र अतिशायने मतुप्। एवं 'लोमशः' इत्यत्रापि बोध्यः। स्तनकेशादि भगशिश्नादेरप्युपलक्षणम्। केचित्—केशो भगः, शिश्नं लोम इत्याहुः। परं केशपदं लोमपदं च स्वार्थपरमेवेति भाष्यमर्मविदः। तदभावे स्तनकेशलोमादिव्यञ्जकाभावे सति यद् उभयोः=स्त्रीपुंसयोर् अन्तरम्=सदृशं तन्नपुंसकमित्यर्थः।

२. इस धारणा के अनुसार लिङ्ग अर्थनिष्ठ ठहरता है न कि शब्दनिष्ठ। परन्तु वाच्यवाचक के अभेदोपचार के कारण व्यवहार में शब्दों को ही पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग माना जाता है। यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि ब्रह्मन्, आत्मन् आदि पदार्थ यद्यपि सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों का विपरिणाम नहीं होते तथापि उन में भी सत्त्व आदि गुणों को आरोपित कर उपर्युक्तप्रकारेण लिङ्गव्यवस्था मान ली जाती है।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(१२४९) अजाद्यतष्टाप् ।४।१।४।।

अजादीनाम् अकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । इत्यादिरजादिगण: । मेधा । गङ्गा । सर्वा ।।

अर्थः—अज आदि गणपठित प्रातिपदिकों के अथवा अदन्त प्रातिपदिकों के वाच्य स्त्रीत्व का द्योतन करना हो तो उन से परे टाप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अजाद्यत: ।६।१। टाप् ।१।१। प्रातिपदिकात् ।५।१। (**ङ्याप्प्रातिपदिकात्** इस अधिकृत से) । स्त्रियाम् ।७।१। (अधिकृत किया गया है) । **प्रत्ययः, परश्च**—ये दोनों भी अधिकृत हैं । समासः—अजः (अजशब्दः) आदिर्येषान्ते अजादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अजादयश्च अत् च अजाद्यत्, तस्य=अजाद्यतः, समाहारद्वन्द्वः । 'अजाद्यतः' के कारण 'प्रातिपदिकात्' का भी षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है—अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य । 'अजाद्यतः' यह 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण है । अतः 'अत्' अंश से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जाता है[1] । 'अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य' में षष्ठी वाच्यवाचकसम्बन्ध में हुई है । अर्थः—(अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य) अज आदि प्रातिपदिक का अथवा अदन्त प्रातिपदिक का वाच्य (स्त्रियाम्) जो स्त्रीत्व उस के द्योतन करने की विवक्षा में इन से (परः) परे (टाप्) टाप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है[2] ।

---

१. यहां **समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** (वा०) इस वार्त्तिक से तदन्तविधि का निषेध नहीं होता क्योंकि वहां **उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** (वा०) इस दूसरी वार्त्तिक से उगिद्-ग्रहण और वर्णग्रहण में तदन्तविधि का विधान कह दिया गया है ।
यह तदन्तविधि 'अजादि' अंश से भी यहां हो सकती है । **शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः** (गण०) इस गणसूत्र तथा **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) इस अधिकार के कारण स्त्रीप्रत्ययों में भी तदन्तविधि का अनुमान किया जाता है ।

२. 'अजाद्यतः' को कौमुदीकार ने षष्ठ्यन्त पद माना है, पञ्चम्यन्त नहीं । यदि पञ्चम्यन्त मानते हैं तो—अजादि प्रातिपदिक तथा अदन्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय हो—इस प्रकार अर्थ तो बहुत सरल हो जाता है परन्तु तब पञ्चाजी (पाञ्च बकरों का समूह) आदि प्रयोगों में भी टाप् प्राप्त होने लगता है जो अनिष्ट है । तथाहि—पञ्चानाम् अजानां समाहारः पञ्चाजी । यहां 'पञ्चन् आम्+अज आम्' इस अलौकिक विग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समाहार अर्थ में द्विगुसमास हो कर सुँब्लुक्, नकारलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'पञ्चाज' यह द्विगुसञ्ज्ञक प्रातिपदिक उत्पन्न हो जाता है । अब **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर अन्त में 'अज' शब्द होने के कारण पञ्चम्यन्त वाला अर्थ

टाप् में **चुटू** (१२९) द्वारा टकार तथा **हलन्त्यम्** (१) द्वारा पकार इत्संज्ञक हैं अतः **तस्य लोपः** (३) से इन का लोप हो कर 'आ' ही शेष रह जाता है। टाप् में पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। किञ्च **औङ आपः** (२१६), **आङि चापः** (२१८), **याडापः** (२१९) आदि में आप् कहने से डाप् और चाप् के साथ टाप् का भी ग्रहण हो सके, इस के लिये भी जोड़ा गया है। टाप् में टकार अनुबन्ध न जोड़ते तो 'आप्' कहने से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) आदि में केवल इसी का ग्रहण होता डाप् और चाप् का नहीं (**एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य**), अतः सब का ग्रहण हो सके इस के लिये टकार जोड़ा गया है।

अजादिगण के उदाहरण यथा—

अज (बकरा) शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है[1]। स्त्रीत्व के द्योतन करने में इस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) सूत्रद्वारा टाप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों (ट्, प्) का लोप करने से—अज+आ। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ हो 'अजा'

करने से टाप् प्राप्त होने लगता है जो अनिष्ट है। परन्तु षष्ठ्यन्त वाला अर्थ मान कर 'अजादियों का वाच्य जो स्त्रीत्व उस की विवक्षा में टाप् हो' ऐसा अर्थ हो जाने से टाप् नहीं हो सकता, क्योंकि यहां स्त्रीत्वविशिष्ट समाहार अर्थ 'अज' का वाच्य नहीं, वह तो पूरे द्विगुसंज्ञक 'पञ्चाज' प्रातिपदिक का ही वाच्य है। अतः टाप् न हो कर **द्विगोः (१२५७)** से ङीप् करने से 'पञ्चाजी' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा। इस तरह 'अजाद्यतः' को षष्ठ्यन्त मानना उचित है पञ्चम्यन्त नहीं। अत एव सिद्धान्तकौमुदीकार ने लिखा है—**अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी।**

१. अजादिगण में अज आदि प्रातिपदिकों का साक्षात् पाठ नहीं किया गया किन्तु कृतटाप्प्रत्ययान्त अजा आदि शब्दों का परिगणनमात्र किया है। उन परिगणित टाबन्तों से तत्तत्प्रकृतिक प्रातिपदिकों की प्रक्रियादशा में स्वयं कल्पना कर ली जाती है। अजादिगण यथा—अजा। एडका। कोकिला। चटका। अश्वा। मूषिका। बाला। होडा (होढा का०)। पाका। वत्सा। मन्दा। विलाता। पूर्वापहाणा (पूर्वापहरणा का०)। अपरापहाणा (अपरापहरणा का०)। **सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्**—सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला। **सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्**—सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा। **शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः**। क्रुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा पुंयोगेऽपि। **मूलान्नञः**। दंष्ट्रा। आकृतिगणोऽयम्॥

शब्द बन जाता है[1]। आबन्त होने के कारण (११९) अब इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप तथा **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) सूत्रद्वारा अपृक्त सकार का भी लोप करने से 'अजा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'अजा' का अर्थ है—बकरी।

इसीप्रकार—

एडक + टाप् = एडक + आ = एडका (भेड़)।
अश्व + टाप् = अश्व + आ = अश्वा (घोड़ी)।
चटक + टाप् = चटक + आ = चटका (चिड़िया)।
मूषिक + टाप् = मूषिक + आ = मूषिका (चूही)।[2]
बाल + टाप् = बाल + आ = बाला (बच्ची)।
वत्स + टाप् = वत्स + आ = वत्सा (बच्ची या बछिया)।
होड + टाप् = होड + आ = होडा (बाला)।
मन्द + टाप् = मन्द + आ = मन्दा (बालिका)।
विलात + टाप् = विलात + आ = विलाता (बाला या नवयौवना)।

अदन्त प्रातिपदिकों से यथा—

मेध + टाप् = मेध + आ = मेधा (बुद्धि)।
गङ्ग + टाप् = गङ्ग + आ = गङ्गा (नदीविशेष)।
सर्व + टाप् = सर्व + आ = सर्वा (सब)।
खट्व + टाप् = खट्व + आ = खट्वा (खाट)।
धनिक + टाप् = धनिक + आ = धनिका (धनी औरत)।

---

१. जो लोग 'अज + आ' इस स्थिति में भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर रूपसिद्धि किया करते हैं—वे भ्रान्त हैं। क्योंकि **यस्येति च** (२३६) की प्रवृत्ति ईकार या तद्धित परे होने पर ही हुआ करती है। टाप् प्रत्यय तद्धिताधिकार से बहिर्भूत है। अतः सवर्णदीर्घद्वारा ही रूप सिद्ध करना चाहिये।

२. मुष्णातीति मूषिकः। **मुष स्तेये** (क्र्या० परस्मै०) धातु से **मुषेर्दीर्घश्च** (उणा० २.४३) इस औणादिकसूत्रद्वारा किकन् (इक) प्रत्यय कर धातु के उकार को दीर्घ करने से 'मूषिक' शब्द निष्पन्न होता है। इसी का यहां ग्रहण किया गया है। कुछ लोग भ्वादिगणीय **मूष स्तेये** (भ्वा० परस्मै०) धातु से संज्ञा में **क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि** (उणा० २.३३) सूत्र से क्वुन् (वु) प्रत्यय कर वु को अक आदेश करने से 'मूषक' शब्द की निष्पत्ति मानते हैं—मूषतीति मूषकः। उन के मतानुसार टाप् करने के बाद **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से अकार को इकार करना विशेष कार्य होगा।

कृत्रिम + टाप् = कृत्रिम + आ = कृत्रिमा (बनावटी)।
स्वभावज + टाप् = स्वभावज + आ = स्वभावजा।
गत + टाप् = गत + आ = गता (गई हुई)।

शङ्का—अजादिगणपठितशब्द प्रायः अदन्त हैं। अदन्त होने से ही उन से टाप् स्वतः सिद्ध है, पुनः टाप् के विधान के लिये उन का सूत्र में पृथक् उल्लेख क्यों किया गया है ?

समाधान—बाधक प्रत्ययों का बाध करने के लिये ही सूत्र में अजादियों का पृथक् उल्लेख किया गया है। यथा—अजा, अश्वा, चटका आदि में **जातेरस्त्रीविषया-दयोपधात्** (१२६६) से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त था। वत्सा, बाला आदि में **वयसि प्रथमे** (१२५६) से ङीप् होना था। परन्तु अब विशेष उल्लेख के कारण उन का बाध हो कर टाप् प्रत्यय ही होता है।

पीछे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में स्त्रीप्रत्ययविषयक दो सूत्र प्रसङ्गतः पढ़े गये थे। प्रकरणशुद्धि के लिये उन का यहां पुनर्ध्यान कर लेना उचित है। तथाहि—

[१] **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२)। **अर्थः**—ऋदन्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् (ई) प्रत्यय हो जाता है। ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—कर्तृ + ङीप् = कर्तृ + ई = कर्त् र् + ई (१५) = कर्त्री (करने वाली)। हर्तृ + ङीप् = हर्तृ + ई = हर्त् र् + ई = हर्त्री (हरण करने वाली)। धातृ + ङीप् = धातृ + ई = धात्री (धारण करने वाली)। इत्यादि। नकारान्तों से यथा—दण्डिन् + ङीप् = दण्डिन् + ई = दण्डिनी (दण्ड वाली)। योगिन् + ङीप् = योगिन् + ई = योगिनी (योग वाली)। रोगिन् + ङीप् = रोगिन् + ई = रोगिणी (रोग वाली)। राजन् + ङीप् = राजन् + ई = राज्न् + ई = राज्ञ् + ई = राज्ञी (रानी)। यहां **अल्लोपोऽनः** (२४७) सूत्र से भसंज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के द्वारा नकार को ञकार हो जाता है। **जञोर्ज्ञः**।

अब इस सूत्र का अपवाद कहते हैं—

[२] **न षट्-स्वस्रादिभ्यः** (२३३)। **अर्थः**—स्त्रीत्व की विवक्षा में षट्सञ्ज्ञक प्रातिपदिकों तथा स्वसृ आदि प्रातिपदिकों से परे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं होते। **ष्णान्ता षट्** (२९७) सूत्र से षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचकों की षट्संज्ञा कही गई है। परन्तु षकारान्त षट्संज्ञक से किसी सूत्रद्वारा कोई स्त्रीप्रत्यय प्राप्त नहीं होता अतः उस का निषेध यहां अभीष्ट नहीं हैं, केवल नकारान्त षट्सञ्ज्ञकों से ही **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) द्वारा ङीप् प्राप्त होता है अतः उन से ही यहां निषेध होता है। उदाहरण यथा—पञ्च स्त्रियः, सप्त नार्यः, दश देव्यः[1]। इसीप्रकार स्वसृ आदि

---

१. इन 'पञ्च' आदि उदाहरणों में प्रकृतसूत्र से प्रथम बार तो ङीप् का तथा दूसरी बार टाप् प्रत्यय का निषेध हो जाता है। तथाहि—पञ्चन् आदि से सुँबुत्पत्ति से

शब्दों[1] से ऋदन्तलक्षण ङीप् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है— स्वसा, तिस्रः, चतस्रः, ननान्दा, दुहिता, याता, माता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५०) उगितश्च ।४।१।६।।

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । भवन्ती । पचन्ती । दीव्यन्ती ।।

अर्थः—उगिदन्त अर्थात् जिस का उक् (उ, ऋ, लृ) वर्ण इत् हो तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—उगितः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—उक् (उ ऋ लृ—इति वर्णत्रयरूप उक्प्रत्याहारः) इद् यस्य स उगित्, तस्मात्=उगितः, बहुव्रीहिसमासः । 'उगितः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उगिदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है[2] । अर्थः—(उगितः=उगिदन्तात्) उक्प्रत्याहारान्तर्गतवर्ण जिस का इत् हो वह उगित् कहायेगा, वह उगित् जिस के अन्त में हो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की

पूर्व ही स्त्रीत्व की विवक्षा में नान्तलक्षण ङीप् के प्राप्त होने पर **ष्णान्ता षट्** (२६७) से षट्संज्ञा के कारण प्रकृतसूत्रद्वारा उस का निषेध हो जाता है । अब जब जस् या शस् प्रत्यय ला कर **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से उन का लुक् कर देते हैं तब **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप हो कर 'पञ्च' आदि सिद्ध हो जाते हैं । परन्तु नकार का हुआ यह लोप **न लोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु कृति** (२८२) के अनुसार सुँब्विधि आदियों में ही असिद्ध होता है अन्यत्र टाप् आदि करने में नहीं । तो इस प्रकार टाप्विधान के प्रसङ्ग में नकारलोप के सिद्ध होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) द्वारा अदन्तलक्षण टाप् प्रत्यय प्राप्त होने लगता है । परन्तु इस का वारण भी पूर्ववत् प्रकृतसूत्र से षट्संज्ञा के कारण ही हो जाता है । यहां यह ध्यातव्य है कि संज्ञाविधि के प्रति तो नकार का लोप असिद्ध है ही अतः षट्संज्ञा करने में 'पञ्च' की नकारान्तता अक्षुण्ण रहती है, इस से षट्संज्ञा निर्बाध हो कर अदन्तलक्षण टाप् का भी सुतरा निषेध हो जाता है ।

१. **स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ।।**

२. न च **समासप्रत्ययविधौ तदन्तप्रतिषेधः** (वा०) इति तदन्तविधेर्निषेधः शङ्क्यः, तत्र **उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** (वा०) इत्युक्तत्वात् ।

विवक्षा में (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। उक् (उ, ऋ, ऌ) वर्ण जिस के इत् हों ऐसे शब्द दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रातिपदिक या प्रत्यय। भवतुँ (आप) यह अव्युत्पन्न सर्वनाम है, इस का अन्त्य उकार इत् है अतः यह उगित् प्रातिपदिक है। शतृँ, वसुँ आदि प्रत्ययों के अन्त्य ऋकार वा उकार अनुनासिक होने से इत् हैं अतः ये उगित् प्रत्यय हैं। उगित् चाहे प्रातिपदिक हो या प्रत्यय, वह जिस के अन्त में हो उस प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो जाता है। ङीप् का ङकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ई' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्त स्वर के लिये तथा ङकार अनुबन्ध ङीष्, ङीप्, ङीन् इन के सामान्यग्रहण के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—

भवतुँ (आप) शब्द सर्वनाम है। इस का अन्त्य उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है अतः 'भवत्' शब्द उगित् है। व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से यह उगिदन्त भी है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **उगितश्च** (१२४६) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर ङकार-पकार अनुबन्धों का लोप करने से—भवत्+ई=भवती शब्द निष्पन्न होता है। अब ङ्यन्त होने से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) के अधिकार में इस से परे सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा अपृक्त सकार का लोप करने से 'भवती' (आप स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। **आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्?** (नैषध० ३.६९)। अत्रभवती या तत्रभवती के लिये इस व्याख्या के अव्ययप्रकरण में 'अत्र' शब्द पर टिप्पण देखें।

इसी तरह—**विदेः शतुर्वसुँः** (८३३) द्वारा विद् धातु से परे शतृँ को वसुँ आदेश करने पर 'विद्वस्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। यह उगित् है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **उगितश्च** (१२४६) द्वारा ङीप् हो कर—विद्वस्+ई। अब ईकार के परे रहते भसंज्ञा हो कर **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से वस् के वकार को सम्प्रसारण उकार, **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप, **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'विदुषी' (जानती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. ङीप्, ङीष्, ङीन् अथवा टाप्, डाप्, चाप्—इन स्त्रीप्रत्ययों के करने के बाद सुँ प्रत्यय लाने पर उपर्युक्त प्रक्रिया अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेनी चाहिये। इसे बार-बार विस्तार से नहीं लिखेंगे। इस प्रक्रिया को आगे प्रायः विभक्तिकार्य से निर्दिष्ट किया जायेगा।

भू सत्तायाम् (भ्वा० परस्मै०) धातु से वर्त्तमान काल में लँट्, उसे **लँटः शतृँ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (८३१) से शतृँ आदेश, शप् (अ) विकरण, धातु के ऊकार को सार्वधातुकगुण से ओकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवत्' यह शत्रन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस के अन्त में 'शतृँ' यह उगित् प्रत्यय किया गया है अतः 'भवत्' यह उगिदन्त प्रातिपदिक ठहरा। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'भवत्+ई' इस स्थिति में **शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६) से नुँम् का आगम, उँम् अनुबन्ध का लोप, **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण नकार करने पर—भवन्ती। अब ङ्यन्त होने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'भवन्ती' (होती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार **डुपचँष् पाके** (भ्वा० उभय०) धातु से शतृँ प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्, नुँम् तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण कर विभक्तिकार्य करने से 'पचन्ती' (पकाती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु (दिवा० परस्मै०) धातु से इसी तरह वर्त्तमानकाल में लँट्, उसे शतृँ आदेश, **दिवादिभ्यः श्यन्** (६२९) से श्यन् विकरण तथा **हलि च** (६१२) से धातु की उपधा इकार को दीर्घ करने पर 'दीव्यत्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **उगितश्च** (१२५०) सूत्र से ङीप्, **शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६) से नुँम् का आगम तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'दीव्यन्ती' (चमकती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—नमन्ती, पठन्ती, पतन्ती, चोरयन्ती आदि की सिद्धि समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि जहां शप् और श्यन् नहीं होता वहां नुँम् का आगम भी नहीं होता। यथा—मुष्णती, ददती, कुर्वती, जानती, अदती, शृण्वती आदि। तुदादिगणीय तथा आकारान्त अदादिगणीय धातुओं के शत्रन्तों में ङीप् के परे रहते **आच्छीनद्योर्नुँम्** (३६५) से वैकल्पिक नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदन्ती-तुदती, लिखन्ती-लिखती, पृच्छन्ती-पृच्छती, यान्ती-याती, पान्ती-पाती आदि दो दो रूप बनते हैं। इसीप्रकार भविष्यत्काल में लृँट् के स्थान पर शतृँ आदेश करने पर भी दो दो रूप बनते है—भविष्यन्ती-भविष्यती आदि। इस विषय पर इस व्याख्या के प्रथम भाग में (३६६) सूत्र पर विस्तृत टिप्पण कर चुके हैं वहीं देखें।

---

१. पूर्वोक्त 'भवती' और इस 'भवन्ती' के अर्थ एवं प्रक्रिया के अन्तर को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

अब लोक में कर्णकटुत्वदोष के लिये प्रसिद्ध[1] अग्रिमसूत्र के द्वारा ङीप् का पुनर्विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५१) **टिड्-ढाऽणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः ।४।१।१५।।**

अनुपसर्जनं यद् टिदादि, तदन्तं यद् अदन्तं प्रातिपदिकं, ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुरुचरी । नदट्—नदी । देवट्—देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । प्रास्थिकी[2] । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी ।।

अर्थः—अनुपसर्जन (अगौण अर्थात् प्रधान) जो टित् या ढ आदि प्रत्यय, वे जिस के अन्त में हों ऐसे अदन्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—टित्-ढ-अण्-अञ्-द्वयसच्-दघ्नच्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः[3] । १।३। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । अनुपसर्जनात् ।५।१। (यह पीछे से अधिकृत है) । अतः ।५।१। (**अजाद्यतष्टाप्** से)[4] । स्त्रियाम् ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब भी पूर्वतः अधिकृत हैं । टित् से ले कर क्वरप् तक का समाहारद्वन्द्व है । न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्मात् = अनुपसर्जनात्, नञ्तत्पुरुषः ।

---

१. **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** —

टिड्ढाणञ्द्वयसच्चुटूङसिङसोस्तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्-
वस्मस्ताहशिचष्टुनाष्टुरतइञ्शश्छोऽटचचोऽन्त्यादि टि ।
लोपोव्योर्वलिवृद्धिरेचियचिभं दाधाघ्वदाप्छेच टे-
रित्यब्दानखिलान्नयन्ति कतिचिच्छब्दान् पठन्तः कटून् ।।
(सुभाषितरत्न० । शार्दूलविक्रीडितम्)

२. **पाठोऽयं क्वचिन्नोपलभ्यते ।**

३. **संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।**
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

इस नियम के अनुसार समास में सन्धि नित्य हुआ करती है । अतः यहां सन्धि-रहित पदों का विच्छेद दर्शाया नहीं जा सकता । परन्तु विद्यार्थियों के सुखबोध के लिये यहां सन्धिरहित पदों का विश्लेष दिखाया गया है, परमार्थतः नहीं ।

४. **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से 'अतः' पद का अनुवर्त्तन सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में व्याप्त रहता है । यदि इस प्रकरण में किसी प्रकार के विशेषविधान से अन्यथा नहीं कहा जाता तो इसी का ही अधिकार रहता है तब अदन्त प्रातिपदिक से ही प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

टित्, ढ आदि प्रत्यय हैं[1]। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार इन से तदन्तविधि हो कर टिदन्त, ढान्त, अणन्त आदि बन जाता है। तब इस का 'प्रातिपदिकात्' के साथ अन्वय होता है। इधर 'अतः' यह भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, इसलिये इस से भी तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। 'अनुपसर्जनात्' को 'टिड्ढाणञ्०' से अन्वित किया जाता है, 'प्रातिपदिकात्' से नहीं। इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ प्राप्त होता है—(अनुपसर्जनात् टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः) अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान जो टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् और क्वरप् प्रत्यय—वे जिस के अन्त में हों ऐसे (अतः =अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीप् प्रत्ययः) ङीप् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में।

इन के क्रमशः उदाहरण यथा—

टित्—ट् इत् यस्य स टित्, जिस का टकार इत् हो वह टित् कहाता है। टित् दो प्रकार का होता है। (१) प्रत्यय का टित् होना। (२) प्रातिपदिक या धातु का टित् होना। यहां दोनों प्रकार के टित् अभिप्रेत हैं। यथा—'कुरुचर' शब्द **चरेष्टः** (७९२) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त सिद्ध होता है। 'ट' प्रत्यय टित् है क्योंकि इस के टकार की **चुटू** (१२९) द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। तो इस प्रकार यहां टित्प्रत्यान्त अदन्त प्रातिपदिक 'कुरुचर' से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'कुरुचर+ई' हुआ। अब अजादि स्वादि प्रत्यय 'ई' के परे रहते **यचि भम्** (१६५) द्वारा पूर्व की भसंज्ञा हो जाती है। पुनः **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक अकार का लोप कर ङ्यन्त होने से प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाने पर उस का हल्ङ्यादिलोप हो 'कुरुचरी' (कुरुषु चरति स्त्री कुरुचरी, कुरुदेश में घूमने वाली स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'कुरुचर' में तत्पुरुषसमास के कारण उत्तरपद की प्रधानता है अतः यहां 'चर' यह टित्प्रत्ययान्त शब्द अनुपसर्जन (प्रधान) है इसलिये इस से ङीप् प्रत्यय हो गया है। यदि टिदन्त आदि उपसर्जन (गौण) होंगे तो ङीप् न होगा। यथा—बहवः कुरुचरा यस्यां सा बहुकुरुचरा नगरी। यहां अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास में 'कुरुचर' यह टिदन्त गौण (उपसर्जन) है अतः 'बहुकुरुचर' शब्द से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

नदट्, देवट्, चोरट् आदि शब्द पचादिगण (७८६) में अच्प्रत्ययान्त पढ़े गये हैं। इन के टकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप करने से 'नद, देव,

---

१. टित् को छोड़ अन्य सब प्रत्यय हैं। टित्—प्रत्यय अप्रत्यय दोनों प्रकार का होता है। यदि टित् अप्रत्यय होगा तो भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने के कारण इस से तदन्तविधि हो जायेगी।

चोर' आदि रह जाते हैं। टित्त्व के कारण इन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से नदी (दरिया), देवी (दिव्यगुणयुक्ता स्त्री), चोरी (चोर स्त्री) आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

धातु के टित्त्व के उदाहरण स्तनंधयी (स्तनपान करने वाली बच्ची) आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें[1]।

ढ प्रत्यय का उदाहरण यथा—'सुपर्णी ङस्' से अपत्य अर्थ में **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) सूत्र से तद्धित ढक् (ढ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ढ् को एय् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक ईकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर 'सौपर्णेय' यह ढक्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सौपर्णेयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सुपर्ण्या अपत्यं स्त्री सौपर्णेयी (सुपर्णी की कन्या, गरुड़ की बहन)। इसीप्रकार विनताया अपत्यं स्त्री वैनतेयी[2]।

अण्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

देवतावाचक प्रथमान्त 'इन्द्र' शब्द से **सास्य देवता** (१०४१) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो कर—इन्द्र सुँ+अण्। तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक्, प्रत्यय के णित्त्व के

---

१. यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि आगम के टित्त्व के कारण कोई प्रातिपदिक टित् नहीं होता। अत एव 'पठित' आदि को इट् आगम के कारण टित् न मानने से टित्त्वलक्षण ङीप् नहीं होता, अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। यथा—पठिता अष्टाध्यायी, चलिता लक्ष्मीः, ग्रथिता माला, पूजिता विद्या, भूषिता कन्या, पतिता पुष्पावलिः इत्यादि। इस में प्रमाण है **सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु-ट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्र में तुँट् आगम को टित् करने पर भी ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों को पुनः टित् करना। यदि आगमों का टित्त्व ङीप् का निमित्त होता तो प्रत्ययों को ङीप् के लिये पुनः क्यों टित् करते? उदाहरण यथा—सायन्तनी वेला, चिरन्तनी गाथा आदि।

२. नन्वत्र **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प०) इति परिभाषया **शिलाया ढः** (५.३.१०२), **ढश्छन्दसि** (४.४.१०६) इत्यनयोरेव ग्रहणमुचितं न तु सानुबन्धकस्य ढकः। सत्यम्। तयोः स्त्रियामप्रवृत्तेरगत्या सानुबन्धकस्य ढस्य ग्रहणं क्रियत इति भाष्ये स्पष्टम्।

कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'ऐन्द्र' यह अणप्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'ऐन्द्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **इन्द्रो** देवताऽस्य इति ऐन्द्री। इन्द्र जिस का देवता है ऐसी दिशा (पूर्वा), ऋचा आदि।

अण् प्रत्यय तद्धित और कृत् दो प्रकार का हुआ करता है। यहां तद्धित का उदाहरण दिया गया है। कृत्सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय के उदाहरण—कुम्भकारी, नगरकारी आदि समझने चाहियें। तद्धित अण् का अन्य उदाहरण—चन्द्रमस इयम्—चान्द्रमसी[1]।

अण्प्रत्यय की तरह **शीलम्** (११२८), **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) इन से णप्रत्यय करने पर भी ज्ञापक के आश्रय से इस में भी ङीप् की प्रवृत्ति हो जाती है—**ताच्छीलिके णेऽपि** (अण्कार्यं भवति)—सि० कौ०। उदाहरण यथा—'चुरा शील-मस्याः' इस अर्थ में चुराशब्द से **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) सूत्रद्वारा णप्रत्यय करने पर 'चौर' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से भी ङीप् प्रत्यय हो कर 'चौरी' (चोरी करने के स्वभाव वाली औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—तपः शीलमस्या इति तापसी आदि में समझना चाहिये। परन्तु **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** (ज्ञापकों से ज्ञाप्यमान कार्य सब जगह प्रवृत्त नहीं होता, अर्थात् कहीं-कहीं रुक भी जाता हैं) इस परिभाषा का आश्रय ले कर 'छात्त्र' इस णप्रत्ययान्त प्रातिपदिक का स्त्रीलिङ्ग 'छात्त्रा' ही बनेगा, ङीप् हो कर 'छात्त्री' नहीं, अदन्तलक्षण टाप् ही होगा। गुरो-र्दोषाणाम् आवरणं छत्त्रम्, तच्छीलमस्या इति छात्त्रा (बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेश-भट्ट)[2]।

अञ्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

सप्तम्यन्त 'उत्स' शब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से तद्धित अञ् प्रत्यय, तद्धितान्त के प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (ङि) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि (९३८) तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'औत्स' यह अञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न

---

१. **चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते**
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला
द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ (कुमार० १.४३)

२. इसीप्रकार—प्रज्ञाऽस्त्यस्या इति प्राज्ञा। यहां **प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय 'ण' प्रत्यय किया गया है। ङीप् नहीं होता, टाप् हो जाता है।

होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्र **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औत्सी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। उत्से भवा—औत्सी, झरने में होने वाली मच्छली आदि[1]।

द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्ययों के उदाहरण यथा—

प्रथमाद्विवचनान्त 'ऊरु औ' से 'ऊरू प्रमाणमस्याः' (ऊरु हैं प्रमाण जिस के) इस अर्थ में **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हो कर सुँप् (औ) का लुक् करने से 'ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र' ये तीन तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री' ये प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। ऊरु=पट्टों के प्रमाण जितनी गहरी नदी आदि। इसीप्रकार--जानुद्वयसी, जानुदघ्नी, जानुमात्री आदि प्रयोग बनते हैं। जानुदघ्न्य आपः सरितोऽस्याः (इस नदी का जल घुटनों प्रमाण वाला है)।

तयप् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

प्रथमाबहुवचनान्त पञ्चन्शब्द से 'पञ्च अवयवा अस्याः' (पाञ्च हैं अवयव इस के) इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तद्धितसंज्ञक तयप् प्रत्यय हो सुँप् (जस्) का लुक् तथा पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर 'पञ्चतय' प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने पर 'पञ्चतयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चतय्यो वृत्तयः। दश अवयवा (मण्डलरूपाः) अस्या इति दशतयी ऋक्संहिता।

ठक्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

अक्षैर्दीव्यतीति आक्षिकी स्त्री (पासों से जुआ खेलने वा ी स्त्री)। तृतीयाबहुवचनान्त अक्षशब्द से 'पासों से खेलता या जीतता है' इस अर्थ में तेन **दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक ठक् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त के प्राति-

---

१. उत्स नाम के ऋषि की कन्या (उत्सस्यापत्यं स्त्री) इस अर्थ की विवक्षा में **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) से अञ्प्रत्यय तो होगा—औत्स, परन्तु स्त्रीत्व की विवक्षा में वहां प्रकृतसूत्र से ङीप् न हो कर इस के बाधक **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त होगा। पुनः उस का भी **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) से बाध हो कर ङीन् प्रवृत्त हो जायेगा। ध्यान रहे कि **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिवाचक है। ङीप्, ङीष्, ङीन् प्रत्ययों के कारण स्वर में ही अन्तर पड़ता है लौकिकरूपसिद्धि में नहीं।

पदिकत्व के कारण सुँब्लुक्, ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा अन्त में भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'आक्षिक' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्०** (१२५१) सूत्र-द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आक्षिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ठञ् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

प्रस्थेन क्रीता प्रास्थिकी (प्रस्थ भर वस्तु दे कर खरीदी हुई स्त्रीलिङ्ग वस्तु)। तृतीयान्त प्रस्थशब्द से **तेन क्रीतम्** (११४४) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठञ् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (टा) का लुक्, प्रत्यय के ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदि अच् को वृद्धि (आकार) तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'प्रास्थिक' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'प्रास्थिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ठञ् प्रत्यय का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण—

लवणं पण्यमस्या इति लावणिकी (लवण जिस का पण्य है अर्थात् लवण बेचने वाली स्त्री)। प्रथमान्त लवण शब्द से **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) के अर्थ में **लवणाट्-ठञ्** (४.४.५२) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ठञ् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (सुँ) का लुक्, ठकार को इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण आदि-वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'लावणिक' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'लावणिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

कञ्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

---

१. जब ठक् और ठञ् दोनों प्रत्ययों का इस सूत्र में ग्रहण अभीष्ट है तो केवल 'ठ' ही क्यों नहीं कह देते, इस से ठक् और ठञ् दोनों का ग्रहण हो जायेगा? इस शङ्का का उत्तर यह है कि यदि 'ठ' ही कहते तो ठक् और ठञ् के साथ साथ ठन् का भी ग्रहण हो जाता जो अनिष्ट था। तथाहि—**दण्डोऽस्त्यस्या इति दण्डिका।** यहां **अत इनिँठनौ** (११६१) से ठन् प्रत्यय किया गया है। इस से स्त्रीत्व में ङीप् न कर टाप् करना ही अभीष्ट है।

यादृश (जैसा) शब्द पीछे हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण में **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च** (३४७) सूत्रद्वारा कञ्प्रत्ययान्त सिद्ध किया जा चुका है। कृदन्त होने से **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाती है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'यादृशी' (जैसी) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी** —(पञ्च० ५.९८)। इसीप्रकार—तादृशी (वैसी), कीदृशी (कैसी), मादृशी (मुझ जैसी), त्वादृशी (तुझ जैसी), सदृशी (वैसी) आदियों में ङीप् प्रत्यय समझना चाहिये।

क्वरप्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

इण् गतौ (अदा० परस्मै०) धातु से तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में **इण्-नश्-जि-सर्त्तिभ्यः क्वरप्** (३.२.१६३) सूत्रद्वारा कृत्संज्ञक क्वरप् (वर) प्रत्यय कर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से तुँक् का आगम करने पर 'इत्वर' (गमनशील) यह कृदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वय-सज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप्, अनुबन्धलोप एवं भ-सञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'इत्वरी' (गमनशीला, पुंश्चली-कुलटा) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसीप्रकार—नश्वरी (नाशशीला), जित्वरी (जयशीला), सृत्वरी (प्रसरणशीला), गत्वरी (गमनशीला) आदि प्रयोगों में ङीप् समझना चाहिये। साहित्यिक प्रयोग यथा—

शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रियः।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः॥ (किरात० ११.१२)

विशेष वक्तव्य—यतमाना, पचमाना, एधमाना, वर्धमाना, वक्ष्यमाणा, वीक्ष्य-माणा, क्रियमाणा इत्यादियों में लँट् या लृँट के स्थान पर होने वाले शानच् प्रत्यय में

---

१. 'क्वरप्' इस सानुबन्ध कथन के कारण वरच्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् नहीं होता, टाप् ही होता है। **स्थेशभासपिसकसो वरच्** (३.२.१७५)। स्था-वरः, स्थावरा; ईश्वरः, ईश्वरा; भास्वरः, भास्वरा; पेस्वरः, पेस्वरा; विकस्वरः, विकस्वरा। तथा च भारविः—
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः (किरात० ५.३३)। कहीं कहीं 'ईश्वरा' के स्थान पर 'ईश्वरी' का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा देवीमाहात्म्य में—
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवी चराचरस्य। इन स्थानों में ईश्वर-शब्द औणादिक वरट्प्रत्ययान्त है अतः टित्त्वान्ङीप् समझना चाहिये। अथवा इन स्थानों में पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) द्वारा ङीष् समझा जा सकता है [**अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) इति क्वनिपि **वनो र च** (४.१.७) इति ङीब्रौ—इत्यपरे]।

स्थानिवद्भाव के कारण टित्त्व संक्रमित नहीं होता, अतः ङीप् नहीं हो सकता। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) सूत्रद्वारा अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। इस में लिँङ्स्थानी परस्मैपदों में यासुँट् आगम को ङित् करना ज्ञापक है। यदि लिँङ् के आदेश तिप् आदियों में स्थानिवद्भाव के कारण ङित्त्व आ जाये तो यासुँट् को ङित् अतिदेश करना व्यर्थ हो जाये। अतः इस से यह ज्ञापित होता है कि लकाराश्रित अनुबन्धकार्य आदेशों में नहीं हुआ करते। इस से लृँट् के स्थान पर होने वाले शानच् में उगित्त्वधर्म के न आने से **उगितश्च** (१२५०) द्वारा 'वक्ष्यमाणा' आदि में ङीप् नहीं होता। इस विषय पर विशेष विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब इस सूत्र पर एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०१) **नञ्-स्नञीकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्** ॥

स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी॥

अर्थः—नञ्प्रत्ययान्त, स्नञ्प्रत्ययान्त, ईकक्प्रत्ययान्त और ख्युन्प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से तथा तरुण और तलुन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् का विधान अभीष्ट है। इस वार्त्तिक में परिगणित नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन् प्रत्यय हैं। तरुण और तलुन प्रातिपदिक हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) के अनुसार प्रत्ययों से तदन्तों का ग्रहण समझना चाहिये। वार्त्तिक के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—

नञ्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

सप्तम्यन्त स्त्रीशब्द से प्राग्भवनीय भव आदि अर्थों में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा तद्धित नञ् (न) प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँप् (सुप्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) से आदिवृद्धि एवं नकार को णकार करने से 'स्त्रैण' यह नञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **नञ्-स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'स्त्रैणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीषु भवा स्त्रैणी। स्त्रियों में होने वाली (कथा, चर्चा, प्रवृत्ति आदि)।

स्नञ्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

सप्तमीबहुवचनान्त पुंस् शब्द से प्राग्भवनीय भव आदि अर्थों में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक स्नञ् (स्न) प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँप् (सुप्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि

तथा पदत्व के कारण पुंस् के सकार का संयोगान्तलोप हो कर स्नञ्प्रत्ययान्त 'पौंस्न' शब्द निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पौंस्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पुंसु भवा पौंस्नी। पुरुषों में होने वाली (कथा, चर्चा, प्रवृत्ति आदि)। साहित्यगत प्रयोग यथा—

संगच्छ पौंस्नि ! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे।
राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (भट्टि० ५.६१)

[सीता के प्रति रावण कह रहा है—हे सीते ! हे पुरुषयोग्ये ! तरुणी तुम, स्त्रियों के योग्य मुझ तरुण के पास रहो। रामचन्द्र राज्य से भ्रष्ट हो कर भाग्यहीन हो चुका है अत एव उस निर्धन को छोड़ दो। पुंसे हिता पौंस्नी, तत्सम्बुद्धौ—'पौंस्नि'।]

ईकक्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

शक्तिः प्रहरणमस्या इति शाक्तीकी (शक्ति=बरछी है हथियार जिस का, ऐसी स्त्री)। प्रहरण (शस्त्र) वाचक प्रथमान्त 'शक्ति' शब्द से **तदस्य प्रहरणम्** के अर्थ में **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५६) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक ईकक् (ईक) प्रत्यय हो, सुँब्लुक्, प्रत्यय के कित्त्व के कारण आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने पर 'शाक्तीक' यह ईकक्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत वार्त्तिक **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'शाक्तीकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—यष्टिः प्रहरणमस्या इति 'याष्टीकी' [लाठी हथियार धारण करने वाली स्त्री] प्रयोग सिद्ध होता है।

ख्युन्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्ति अनयेति आढ्यङ्करणी (विद्या)। जिस के द्वारा अनाढ्य (निर्धन) व्यक्ति को आढ्य (धनी) बनाया जाता है, ऐसी विद्या आदि। यहां च्व्यर्थ अर्थात् अभूततद्भाव में वर्त्तमान 'आढ्य' कर्म के उपपद रहते **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) धातु से करण कारक में **आढ्य-सुभग-स्थूल-पलित-नग्नाऽन्ध-प्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्** (३.२.५६)[1] सूत्रद्वारा करणकारक में कृत्संज्ञक ख्युन् (यु) प्रत्यय, **युवोरनाकौ** (७८५) से 'यु' को 'अन' आदेश, धातु को आर्धधातुकगुण, उपपदसमास, खित् के परे रहते **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७६७) से मुँम् का आगम, मकार को अनुस्वार, अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण तथा अन्त में **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार करने पर 'आढ्यङ्करण' यह ख्युन्प्रत्ययान्त कृदन्त शब्द निष्पन्न हो जाता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुना-**

---

१. आढ्यादिषु च्व्यर्थेषु अच्व्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु कृञः ख्युन् प्रत्ययः स्यात्।

नाम्० (वा० १०१) से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं विभक्ति-कार्य करने से 'आढ्यङ्करणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—सुभगङ्करणी, स्थूलङ्करणी, पलितङ्करणी (जरा), नग्नङ्करणी, अन्धङ्करणी, प्रियङ्करणी' प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये।

तरुण और तलुन प्रातिपदिकों के उदाहरण यथा—

तरुण और तलुन प्रातिपदिक युववाचक हैं। इन से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतवार्त्तिक **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'तरुणी' 'तलुनी' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। दोनों का अर्थ है—युवति स्त्री।[2]

विशेष वक्तव्य—तरुण और तलुन शब्द वयोवाचक हैं। इन से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वयस्यचरमे** (वा०) वार्त्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय होना चाहिये था। परन्तु गौरादिगण में पाठ के कारण **षिद्‌गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीप् को बाध कर ङीष् का विधान किया गया है। इस पर प्रकृतवार्तिक से ङीप् का पुनर्विधान किया जाता है। गौरादिगण में पाठ के सामर्थ्य से पक्ष में ङीष् भी हो जायेगा। ङीष् करने पर भी रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, पर स्वर में अन्तर आ जायेगा। ङीप् करने पर आद्युदात्त तथा ङीष् करने पर अन्तोदात्त स्वर हो जायेगा।

न्यासकार तथा कैयट आदियों का कथन है कि इस वार्त्तिक में पढ़े तरुण और तलुन शब्द वयोवाचक नहीं अपितु सुरा आदि की प्रत्यग्रता (तीक्ष्णता, नवीनता, उत्कृष्टता) आदि के वाचक हैं अतः प्रकृत वार्त्तिक से ङीप् हो कर 'तरुणी तलुनी वा सुरा' बनेगा। वयोवाचकों से तो गौरादित्वात् ङीष् ही होगा ङीप् नहीं। परन्तु प्रदी-पोद्द्योतकार नागेशभट्ट का कथन है कि तरुण और तलुन शब्द मुख्यतया वयोवाचक ही हैं प्रत्यग्रता आदि तो इन का लाक्षणिक अर्थ है अतः उपर्युक्तप्रकारेण ङीप् और ङीष् प्रत्ययों की पर्याय से ही प्रवृत्ति होगी।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा यञन्त से ङीप् का विधान करते हैं—

---

१. सुभगङ्करणी (जो कल्याणयुक्त नहीं उसे कल्याणयुक्त बनाया जाता है जिस के द्वारा)। स्थूलङ्करणी (जो स्थूल नहीं उसे स्थूल बनाया जाता है जिस के द्वारा)। पलितङ्करणी (जो बूढ़ा नहीं उसे बूढ़ा बनाया जाता है जिस के द्वारा)। नग्नङ्करणी (जो नङ्गा नहीं उसे नङ्गा किया जाता है जिस के द्वारा)। अन्धङ्करणी (जो अन्धा नहीं उसे अन्धा किया जाता है जिस के द्वारा)। प्रियङ्करणी (जो प्रिय नहीं उसे प्रिय बनाया जाता है जिस के द्वारा)।

२. **अनभ्यासे विषं विद्या, अजीर्णे भोजनं विषम्।**
विषं सभा दरिद्रस्य, वृद्धस्य तरुणी विषम्॥ (हितोप०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२५२) **यञश्च** ।४।१।१६।।

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । अकारलोपे कृते—

अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से परे ङीप् प्रत्यय हो । **अकारलोपे कृते—यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा अकार का लोप करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—यञः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । यञ् यह प्रत्यय है, अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) परिभाषाद्वारा तदन्तविधि हो कर 'यञन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(यञः =यञन्तात्) यञन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (परः) परे (च[1]) भी (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । यदि पूर्वस्थ **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र में टित्, ढ, अण् आदियों के साथ यञ् को भी पढ़ देते तो इस सूत्र के बनाने की आवश्यकता न पड़ती । परन्तु मुनि ने ऐसा नहीं किया । इस का कारण यह है कि वे इस से अगले **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) सूत्र में केवल 'यञः' का ही अनुवर्तन चाहते हैं टिड्ढाणञ्० आदि का नहीं अतः उन्होंने पृथक् सूत्र बनाया है[2] ।

सूत्र का उदाहरण यथा —

गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी (गर्ग की गोत्रसन्तति कन्या) । गोत्रापत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त गर्गशब्द से **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक यञ् (य) प्रत्यय करने पर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवम् अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'गार्ग्य' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है । अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, उस के अनुबन्धों का लोप तथा पूर्ववत् भसंज्ञक अकार का लोप करने पर—'गार्ग्य् + ई' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. यहां 'च' का कोई विशेष प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, ङीप् की अनुवृत्ति यहां समाप्त नहीं हो रही । आगे **वयसि प्रथमे** (१२५६) आदि सूत्रों में भी इस का अनुवर्तन हो रहा है । न्यासकार के अनुसार यहां 'च' का ग्रहण अनुक्तों के समुच्चयार्थ है, अतः **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिक पाणिन्यनुमत सिद्ध हो जाता है ।

२. टिड्ढाणञ्सूत्रे एव यञः पाठेन ङीपि सिद्धे **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) इत्युत्तरसूत्रे यञ एवानुवृत्तिर्यथा स्यादित्यतो योगविभाग इत्यवसेयम् ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५३) **हलस्तद्धितस्य ।६।४।१५०॥**

हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाभूतस्य लोप ईकारे परे । गार्गी ॥

अर्थः—हल् से परे तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप हो जाता है ईकार परे हो तो ।

व्याख्या—हलः ।५।१। तद्धितस्य ।६।१। उपधायाः ।६।१। यः ।६।१। (**सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** सूत्र से) । लोपः ।१।१। (**ढे लोपोऽकद्र्वाः** सूत्र से) । ईति ।७।१। (**यस्येति च** से) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (तद्धितस्य) तद्धित के अवयव (उपधायाः) उपधा (यः) यकार का (लोपः) लोप हो जाता है (ईति) ईकार परे हो तो ।

'गार्ग्य्+ई' यहां ईकार परे है अतः हल्-गकार से परे तद्धित-प्रत्यय यञ् की उपधा यकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है—गार्ग्+ई=गार्गी । विभक्तिकार्य हल्ङ्यादिलोप करने से 'गार्गी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यं स्त्री वात्सी (वत्स की गोत्रसन्तति कन्या) । वत्सशब्द भी गर्गादिगण में पढ़ा गया है ।

शङ्का—इस सूत्र में 'उपधायाः' की अनुवृत्ति लाने की आवश्यकता ही क्या है ? सीधा—हल् से परे तद्धित के यकार का लोप हो ईकार परे होने पर—ऐसा सरल अर्थ क्यों नहीं कर देते ? गार्ग्य्+ई='गार्गी' सिद्ध हो जायेगा । यदि कहो कि **यस्येति च** (२३६) द्वारा लुप्त हुआ अकार **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (६९६) सूत्र से स्थानिवद्भाव के कारण उपस्थित हो कर पूर्वविधि (यकारलोप) में रुकावट डालता है अतः 'उपधायाः' का ग्रहण किया गया है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि **न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप- स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु** (१.१.५७)[1] सूत्र से यकार का लोप करने में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा गया है । इस तरह ईकार और यकार के मध्य किसी प्रकार का व्यवधान न पड़ने से सीधा लोप हो जायेगा ।

समाधान—**यस्येति च** (२३६) वाला लोप तथा प्रकृतसूत्रद्वारा विहित यह यकार का लोप—दोनों आभीय कार्य हैं । समानाश्रय कोई आभीय कार्य करना हो तो पहले से किया गया आभीय कार्य **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) अधिकार के कारण उस की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है । तदनुसार यहां प्रकृत यकारलोप की कर्त्तव्यता में **यस्येति च** (२३६) द्वारा पूर्व किया गया अकार का लोप असिद्ध हो जाने से यकार और ईकार के मध्य में अकार के आ जाने से उस तथाकथित सरलार्थ से यकार का

---

१. पदान्तविधि, द्विर्वचनविधि, 'वर' के परे रहते विधि, यकारलोपविधि, स्वरविधि, सवर्णविधि, अनुस्वारविधि, दीर्घविधि, जश्विधि और चर्विधि—इन विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता ।

लोप नहीं हो सकता था अतः 'उपधायाः' का अनुवर्त्तन किया गया है। अब अकार का लोप असिद्ध हो कर ही 'य' प्रत्यय के यकार को उपधात्व प्रदान कर देता है इस से उपधा के लोप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती[1]।

विशेष वक्तव्य—प्रकृत **यञश्च** (१२५२) सूत्र में 'यञ्' से अपत्याधिकार में पठित यञ्प्रत्यय का ही ग्रहण अभीष्ट है अन्य यञ् का नहीं—ऐसा वार्त्तिककार का आशय महाभाष्य में व्यक्त किया गया है। इस से अपत्याधिकार से बहिर्भूत यञ् होने पर तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् न होगा, अदन्तलक्षण टाप् ही किया जायेगा। यथा—द्वीपे भवा द्वैप्या (द्वीप में होने वाली)। यहां सप्तम्यन्त द्वीप-शब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **द्वीपादनुसमुद्रं यञ्** (४.३.१०) से यञ् प्रत्यय कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'द्वैप्य' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। क्योंकि यहां यञ् प्रत्यय अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया। इसीप्रकार—देवस्य अपत्यं दैव्या (देव की लड़की) यहां षष्ठयन्त देवशब्द से अपत्य अर्थ में **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) वार्त्तिक से यञ्प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'दैव्य' शब्द निष्पन्न होता है। यहां यञ्प्रत्यय अपत्यार्थक होता हुआ भी अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया अपितु प्राग्दीव्यतीय अधिकार में **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में यहां पर भी ङीप् न हो कर टाप् ही होता है। विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं का अवलोकन करें।

अब यञ्प्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राच्य आचार्यों के मत का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२५४) प्राचां ष्फ तद्धितः ।४।१।१७।।**

यञन्तात् (स्त्रियां) ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः ॥

अर्थः—यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ष्फ प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो।

व्याख्या—प्राचाम् ।६।३। ष्फ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। तद्धितः ।१।१। यञः ।५।१। (**यञश्च** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। प्रत्यय होने के कारण 'यञः' ये तदन्तविधि हो कर 'यञन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राचाम्) पूर्वदेशवासी आचार्यों के मत

---

१. परन्तु अन्य लोगों का कथन है कि 'उपधायाः' की अनुवृत्ति न होने की दशा में ईकार से अव्यवहित पूर्व यकार तो कहीं मिल ही न सकेगा सर्वत्र अकार का व्यवधान अनिवार्यतः रहेगा ही, अतः सूत्रारम्भसामर्थ्य से ही तब यकार का लोप हो जायेगा, इस के लिये 'उपधायाः' का अनुवर्त्तन करना व्यर्थ ही है।

में (यञः=यञन्तात्) यञन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ष्फ=ष्फः) ष्फ (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक भी होता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। यह प्राच्य आचार्यों का मत है, अन्य आचार्यों का मत पीछे निर्दिष्ट कर चुके हैं। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। ष्फप्रत्यय के आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'फ' मात्र शेष रहता है। 'फ' के आदि फकार को **आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से आयन् आदेश हो जाता है। ष्फ को षित् करने का प्रयोजन **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय का विधान करना है। **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार से बहिर्भूत होने के कारण ष्फ तद्धित न था अतः यहां इसे तद्धित अतिदिष्ट किया गया है। इस से ष्फप्रत्ययान्त शब्द **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो जाता है। प्रातिपदिकत्वात् पुनः ङीष् की उत्पत्ति होती है।

उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्ग्यायणी गार्गी वा (गर्ग की गोत्रसन्तति कन्या)। षष्ठ्यन्त गर्गशब्द से गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से यञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर पूर्ववत् 'गार्ग्य' यह यञन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राच्य आचार्यों के मतानुसार प्रकृत **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) सूत्र से ष्फ प्रत्यय, **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से प्रत्यय के आदि षकार की इत्संज्ञा, उस का लोप तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से 'फ' के आदि फकार वर्ण को आयन् आदेश हो जाता है—गार्ग्य आयन् अ=गार्ग्य+आयन। अब **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'गार्ग्य्+आयन=गार्ग्यायन' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५५) षिद्-गौरादिभ्यश्च ।४।१।४१॥

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च (स्त्रियां) ङीष् स्यात्। गार्ग्यायणी। नर्त्तकी। गौरी॥

अर्थः—जिस का षकार इत् हो ऐसे प्रातिपदिकों से तथा गौर आदि गणपठित प्रातिपदिकों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—षिद्-गौरादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। ष् इद् यस्य स षित्, बहुव्रीहिसमासः। गौरः (गौरशब्दः) आदिर्येषान्ते गौरादयः, तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। षितश्च गौरादयश्च षिद्गौरादयः, तेभ्यः=षिद्गौरादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'प्रातिपदिकात्' का सम्बन्ध 'षिद्गौरादिभ्यः' के साथ है अतः वचन-विपरिणाम हो कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बन जाता है। अर्थः—(षिद्गौरादिभ्यः) षित् तथा गौरादिगणपठित (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से (परः) परे (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः)

प्रत्यय हो (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। ङीप् और ङीष् प्रत्ययों के विधान में यही अन्तर होता है कि ङीप्प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त तथा ङीष्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होते हैं। ङीष् का ङकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा षकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ई' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण यथा—

'गार्ग्यायन' यह ष्फप्रत्ययान्त होने से षित् है[1]। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक भी है अतः प्रकृत **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में[2] इस से ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप, णत्व तथा विभक्तिकार्य करने पर 'गार्ग्यायणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्राच्य आचार्यों से भिन्न अन्य आचार्यों के मत में पूर्ववत् 'गार्गी' ही बनेगा। इस प्रकार 'गार्ग्यायणी' और 'गार्गी' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

षित् का अन्य उदाहरण यथा—

नृतीँ **गात्रविक्षेपे** (दिवा० परस्मै०) धातु से **शिल्पिनि ष्वुन्** (३.१.१४५) सूत्र-द्वारा शिल्पी कर्त्ता अर्थ में ष्वुन् (वु) प्रत्यय हो कर षकार और नकार अनुबन्धों का लोप करने से—'नृत्+वु' हुआ। अब **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश

---

१. यहां षित्त्व यद्यपि प्रत्यय का धर्म है तथापि प्रत्यय के लिये वह निष्प्रयोजन है अतः इसे समुदाय (प्रातिपदिक) में उपचरित कर लेते हैं। इस प्रकार समूचा प्रातिपदिक षित् कहलाने लगता है। जैसा कि कहा है—**अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति**। [त्रपूष्प्रभृतीनां धातूनां षित्त्वं तु **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३.३.१०४) इत्यङ्विधौ चरितार्थमिति न तेन प्रातिपदिकं षिद् भवतीति। अतः 'त्रपा' (लज्जा, शरम) इत्यादौ षित्त्वनिमित्तको ङीष् प्रत्ययो न भवति, अपितु अदन्तलक्षणष्टाबेव]।

२. जब 'ष्फ' प्रत्यय ने एक बार स्त्रीत्व का द्योतन करा दिया तो पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा कहां रह गई जिस के लिये दूसरा प्रत्यय ङीष् किया जा रहा है? **उक्तार्थानामप्रयोगः** इस न्याय के अनुसार यहां दूसरा स्त्रीप्रत्यय न होना चाहिये—यह शङ्का यहां व्युत्पन्न विद्यार्थियों को प्रायः हुआ करती है। इस का समाधान यह है कि ष्फप्रत्यय के षित्करणसामर्थ्य से ही यहां दुबारा स्त्रीप्रत्यय किया जा रहा है, अन्यथा ष्फ का षित्करण व्यर्थ हो जायेगा, उस का कोई उपयोग न होगा। यहां ष्फ और ङीष् दोनों प्रत्ययों का समुदाय एक ही स्त्रीत्व का द्योतन करा रहा है—ऐसा समझना चाहिये। जैसे 'द्वौ पुरुषौ' में दोनों का समुच्चय एक ही द्वित्व का द्योतन कराता है वैसे यहां भी दो स्त्रीप्रत्ययों का समुच्चय एक ही स्त्रीत्व का द्योतक है।

एवं **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण करने से 'नर्तक' (नाचने के शिल्प वाला) यह कृदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। ष्वुन् प्रत्यय के षित्त्व के कारण 'नर्तक' षित् है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रकृत **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नर्तकी' (नाचना जिस का शिल्प है ऐसी स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—खनकी (खोदने के शिल्प वाली), रजकी (रङ्गने के शिल्प वाली) आदियों में षिल्लक्षण ङीष् जानना चाहिये।

गौरादियों के उदाहरण यथा—

'गौर' शब्द गौरादिगण का प्रथम शब्द है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्र **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय हो अनुबन्धों का लोप एवं भसंज्ञक अकार का भी **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गौरी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गौरी=गौरवर्णा स्त्री, शंकरपत्नी अथवा अष्टवर्षीया कन्या—**अष्टवर्षा भवेद् गौरी** (पाराशरस्मृति ७.६)। **गौरी तु नग्निकाऽनागतार्तवा**—इत्यमरः। ध्यान रहे कि गौरशब्द अन्तोदात्त है अतः वर्णवाची होने पर भी **अन्यतो ङीष्** (४.१.४०)[1] से यहां ङीष् प्राप्त न था इसलिये प्रकृतसूत्र से इस का विधान किया है।

गौरादिगण के कुछ अन्य उदाहरण—

सुन्दर+ङीष्=सुन्दरी। नट+ङीष्=नटी। कट+ङीष्=कटी (कमर)। श्वन्+ङीष्=श्वन्+ई। यहां ईकार के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा हो कर **श्व-युव-मघोनामतद्धिते** (२६०)[2] सूत्र से श्वन् के वकार को सम्प्रसारण उकार, एवं **सम्प्रसारणाच्च** (२५८)[3] से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'शुनी' (कुतिया) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तरुण+ङीष्=तरुणी। तलुन+ङीष्=तलुनी। यहां का वक्तव्य पीछे **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानम्** (वा० १०१) वार्त्तिक पर कह चुके हैं। पिप्पल+ङीष्=पिप्पली (पीपर)। पिप्पलीशब्द जातिवाचक नित्यस्त्रीलिङ्ग है अतः **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) द्वारा इसे ङीष् प्राप्त न था इसलिये इस का गौरादिगण में पाठ किया गया है। मातामह+ङीष्=मातामही (मां की मां, नानी)। पितामह+ङीष्=पितामही (पिता की मां, दादी)।

---

१. अर्थः—तकारोपध से भिन्न, वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

२. अर्थः—अन् शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

३. अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

अब ग्रन्थकार गौरादिगणगत अनडुह् शब्द पर एक विशेष बात का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)—आमनडुहः स्त्रियां वा ॥

अनड्वाही, अनडुही । आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—स्त्रीलिङ्ग में ङीष् परे रहते अनडुह् शब्द को विकल्प से आम् का आगम हो जाता है । **आकृतिगणोऽयम्**—गौरादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—गौरादिगण में 'अनडुही' और 'अनड्वाही' दोनों का उल्लेख है । अनडुह् (बैल) शब्द हकारान्त है, अदन्त नहीं, अतः इस से स्त्रीत्व में न तो जातिलक्षण (१२६६) ङीष् प्राप्त होता था और न ही किसी प्रकार से ङीप् । गौरादिगण में पाठ के कारण इस से ङीष् हो जाता है—अनडुह् + ङीष् = अनडुह् + ई = अनडुही (गाय) । गण में 'अनड्वाही' के भी पाठ के कारण ङीष् परे रहते इसे आम् का आगम भी विकल्प से विधान किया गया प्रतीत होता है । इस से कौमुदीकार ने प्रकृत गणसूत्र को ऊहित कर लिया है । आम् के मकार की इत्संज्ञा हो जाती है, 'आ' मात्र शेष रहता है । **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) के अनुसार आम् का आगम अनडुह् शब्द के अन्त्य अच् उकार से परे होता है । आम् के पक्ष में 'अनडु आ ह् + ई' इस दशा में **इको यणचि** (१५) सूत्र से उकार को यण्-वकार हो कर विभक्ति लाने से 'अनड्वाही' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में आम् नहीं होता वहां केवल ङीष् ही रहता है—अनडुही ।

गौरादि आकृतिगण है । अर्थात् स्त्रीत्व की विवक्षा में जहां ङीष् का विधायक कोई सूत्र न मिले उसे गौरादियों के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।[1]

---

१. गौरादिगण यथा—

गौर । मत्स्य । मनुष्य । शृङ्ग । हय । गवय । मुकय । ऋष्य । पुट । तूण । द्रुण । द्रोण । हरिण । पटर । उकण (उणक इति पाठान्तरम्) । आमलक । कुवल । बदर । बिम्ब । कर्कर । तर्कार । शर्कार । पुष्कर । शिखण्ड (शष्कण्ड इति पाठान्तरम्) । सुनन्द । सुषम । सुषव । सलन्द (सलद इति पाठान्तरम्) । अलिन्द । गडुल । षाण्डश । आनन्द । अश्वत्थ । सृपाट । आढक । शष्कुल । सूर्म । सुब (सूच इति पाठान्तरम्) । सूर्य (शूर्प इति पाठान्तरम्) । शूष । पूष । मूष । (यूष इति पाठान्तरम्) । यूथ । घातक (धातक इति पाठान्तरम्) । सकलूक । सल्लक । मालक । मालत । साल्वक । उभय । भृङ्ग । वेतस । अतस । पृस (बृस इति पाठान्तरम्) । मह । मठ । छेद । श्वन् । तक्षन् । अनडुही । अनड्वाही । **एषण करणे** (गणसूत्रम्) । देह । काकादन । गवादन । तेजन । रजन । लवण । पान (यान इति पाठान्तरम्) । मेघ । **गौतम** । आयःस्थूण । भौरि (भौरिकि इति पाठान्तरम्) ।

अब वयोविशेष के वाचकों से स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१२५६**) **वयसि प्रथमे** ।४।१।२०॥

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुमारी ॥

अर्थः—प्रथम वयः (आयु) के वाचक अदन्त प्रातिपदिक से परे ङीप् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में ।

व्याख्या—वयसि ।७।१। प्रथमे ।७।१। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, अतः**—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, इसलिये इस से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । 'वयसि प्रथमे' के आगे 'वर्त्तमानात्' का अध्याहार किया जाता है । अर्थः—(प्रथमे) प्रथम (वयसि) वयः के अर्थ में (वर्त्तमानात्) वर्तमान (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (परः) परे (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । **प्राणिनां कालकृताऽवस्थाविशेषो वयः**—प्राणियों की कालकृत अवस्थाविशेष बचपन आदि को वयः (वयस्) कहते हैं । कुमार, किशोर, आदि शब्द प्राणियों की कालकृत अवस्था के प्राथम्य को कहते हैं अतः ये प्रथमवयोवाचक हैं । स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर—कुमार+ङीप्=कुमार+ई । अब **यस्येति च** (२३६) से भ-संज्ञक अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से लोप करने पर 'कुमारी' 'किशोरी' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

वयः तीन होते हैं—कौमार (बचपन), यौवन (जवानी) और स्थाविर (बुढ़ापा) । जैसाकि स्त्रीरक्षणविषय को ले कर मनु ने कहा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (मनु० ९.३)

भौलिकि । भौलिङ्गि । औद्गाहमानि । आलिङ्गि । आपिच्छि । आलजि । आलब्धि । आलक्षि । आरट । टोट । नट । नाट । मूलाट । शातन (शातन इति पाठान्तरम्) । पातन । पावन । आस्तरण । अधिकरण । अधिकार । आग्रहायणी । प्रत्यवरोहिणी । सेवन । **सुमङ्गलात् संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । अण्डर । सुन्दर । मण्डर । मण्डल । पट । पिण्ड । कुर्द (ऊर्द इति पाठान्तरम्) । गूर्द । सूर्द । पाण्ट (पाण्ढ इति पाठान्तरम्) । लोफाण्ट (लोहाण्ढ) । कदर । कन्दर । कन्दल । बृहत् । महत् । सौधर्म । **रोहिणी नक्षत्रे** (गणसूत्रम्) । **रेवती नक्षत्रे** (गणसूत्रम्) । विकल । निष्कल । पुष्कल । **कटाच्छ्रोणिवचने** (गणसूत्रम्) । पिङ्गल । देह । काकण । **पिप्पल्यादयश्च** (गणसूत्रम्)—पिप्पली । हरीतकी । कोशातकी । शमी । करीरी । पृथिवी । क्रोष्ट्री । मातामही । पितामही । आकृतिगणोऽयम् ॥

कुछ लोग वयः के चार भेद करते हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और वार्धक्य। इन सब को देखते हुए वार्त्तिककार ने इस सूत्र को **वयस्यचरमे** (वयसि + अचरमे) बनाने की सलाह दी है। उन का तात्पर्य यह है कि चरम अर्थात् अन्त्यवयोवाची शब्दों को छोड़ कर अन्य सभी (प्रथम, द्वितीय) वयोवाचकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करना चाहिये। इस अर्थ के कारण यौवनवयोवाची वधूट और चिरण्ट प्रातिपदिकों से भी ङीप् प्रत्यय हो कर 'वधूटी, चिरण्टी' (नौजवान औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं[1]। 'अचरमे' कथन के कारण 'वृद्धा' 'स्थविरा' आदि अन्त्यवयोवाचकों से ङीप् नहीं होता **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है[2]।

यह ङीप् अदन्त प्रातिपदिकों से ही किया जा सकता है, अन्यों से नहीं। अतः 'शिशु' से ङीप् नहीं होता—**शिशुरयम्, शिशुरियम्**। बालशब्द का पाठ अजादिगण में आया है अतः उस से ङीप् न हो कर टाप् प्रत्यय ही होता है—बाला (लड़की)[3]। इसीप्रकार 'वत्सा' के विषय में समझना चाहिये। 'कन्या' शब्द **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) इस ज्ञापक के कारण टाप् प्रत्ययद्वारा सिद्ध किया जाता है।

प्रश्न—यदि प्रथमवयोवाची से ङीप् होता है तो 'वृद्धा चासौ कुमारी वृद्धकुमारी' यहां ङीप् न हो सकेगा? क्योंकि यहां प्रथमवयः की तो बात किञ्चित् भी नहीं है, कुमारी तो वृद्धा हो चुकी है।

---

१. **नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।**
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥ (कारिकावली १)
चिरण्टी तु स्ववासिनी—इत्यमरः। **स्ववासिन्यां चिरण्टी स्याद् द्वितीयवयसि स्त्रियाम्** इति रुद्रः। ऊढा अनूढा वा पितृगृहस्थिता युवतिरिति शब्दकल्पद्रुमः। चिरिण्टी इत्यपि क्वचिद्।

२. वस्तुतः वयः दो प्रकार का ही है एक—उपचयलक्षण अर्थात् वह **वयः** जिस में शरीरगत धातुओं का उपचय (वर्धन) होता रहता है। यह वयः यौवनान्त रहता है। दूसरा—अपचयलक्षण अर्थात् वह वयः जिस में शरीरगत धातुओं का ह्रास होता रहता है। आचार्य पाणिनि का यही मन्तव्य प्रतीत होता है। आचार्य ने इसी मन्तव्य को दृष्टि में रखते हुए **वयसि प्रथमे** (१२५६) सूत्र का निर्माण किया है। उन के मत के अनुसार यौवन तक प्रथम वयः ही है। अतः वधूटी, चिरण्टी आदि के लिये पृथक् वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता ही नहीं रहती, प्रथमवयोवाचक होने से सूत्रद्वारा ही ङीप् सिद्ध हो जाता है। वार्त्तिक की आवश्यकता तो वयः को तीन या चार प्रकार का मानने वालों के मत में ही पड़ती है।

३. **जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।**
न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम्॥
(शाकुन्तल ३.१)

उत्तर—यह प्रयोग साधर्म्य के कारण लाक्षणिक है। वृद्धा होती हुई भी वह पुरुषसंयोगराहित्य के कारण या मौग्ध्य आदि गुणों के कारण कुमारी (प्रथमवयस्का) के सदृश है।

नोट—जिन के श्रवणमात्र से ही वयः की प्रतीति होती है वे शब्द ही यहां वयोवाचक समझे जाते हैं। प्रकरणादि के बल से वयः की प्रतीति कराने वाले शब्द वयोवाचक नहीं माने जाते। यथा—द्विवर्षा कन्या, त्रिवर्षा कन्या। यहां 'कन्या' पद के सामीप्य के कारण ही 'वयः' की प्रतीति होती है, स्वतः नहीं। क्योंकि द्विवर्षा, त्रिवर्षा कोई शाला भी हो सकती है। इसी प्रकार—उत्तानशया बाला (मुंह ऊपर कर सोने वाली बच्ची), लोहितपादिका बाला (स्वभावतः लाल पैरों वाली बच्ची) आदि में समझना चाहिये।

अब अदन्त द्विगु से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२५७) **द्विगोः** ।४।१।२१॥

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात्—त्रिफला, त्र्यनीका॥

अर्थः—अदन्त द्विगुसमास से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो। **अजादित्वात्**—अजादिगण में पाठ के कारण टाप् हो कर त्रिफला और त्र्यनीका शब्दों की सिद्धि होती है।

व्याख्या—द्विगोः ।५।१। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** सूत्र से)। **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च** ये सब अधिकृत हैं। 'अतः' यह 'द्विगोः' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् द्विगोः' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (द्विगोः) द्विगु (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीप्) ङीप् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) अर्थात् जब समाहार अर्थ में द्विगुसमास किया जाये तथा उस का उत्तरपद अकारान्त शब्द हो तो वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त करना अभीष्ट होता है[1]। तो ऐसी अवस्था में प्रकृतसूत्रद्वारा द्विगुसमास से ङीप् प्रत्यय किया जाता है।

उदाहरण यथा—

त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी (तीन लोकों का समाहार)। यहां 'त्रि आम् + लोक आम्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से समाहार अर्थ में समास हो कर **सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से उस की द्विगुसंज्ञा हो जाती है। अब समास में **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों आम् प्रत्ययों) का लुक् हो कर 'त्रिलोक' प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है। तब **अकारान्तो-**

---

१. इस वार्तिक का विवेचन समासप्रकरण में इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (९४३) सूत्र पर विस्तार से किया जा चुका है। वह यहां पुनः मननीय है।

त्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः (वा०) इस इष्टि से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् का बाध कर प्रकृत **द्विगोः** (१२५७) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'त्रिलोकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसीप्रकार—

(१) त्रयाणां पादानां समाहारः—त्रिपादी।

(२) अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी।

(३) पञ्चानां वटानां समाहारः—पञ्चवटी।

(४) चतुर्णां सूत्राणां समाहारः—चतुःसूत्री।

(५) दशानां रथानां समाहारः—दशरथी।

(६) पञ्चानां पूलानां समाहारः—पञ्चपूली (पांच बण्डलों का समूह)।

त्रयाणां फलानां समाहारः—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीन फलों का समाहार)। यद्यपि यहां पर भी समाहार अर्थ में द्विगुसमास हुआ है और इस का उत्तरपद अकारान्त भी है तथापि इस का अजादिगण में पाठ मान लेने के कारण प्रकृत **द्विगोः** (१२५७) सूत्र से ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो जाता है। इसीतरह—त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः—त्र्यनीका सेना (घोड़े, हाथी और रथ इन तीन सैन्यदलों का समाहार अर्थात् सेना) यहां पर भी टाप् प्रत्यय समझना चाहिये[2]।

शङ्का—त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम् (तीन भुवनों का समाहार)। यहां समाहार अर्थ में द्विगुसमास किया गया है। इस समास में 'भुवन' यह अकारान्त शब्द उत्तरपद में है। तो भला यहां **द्विगोः** (१२५७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् क्यों नहीं होता?

समाधान—अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः (वा०) इस वार्त्तिक का एक अपवाद है—**पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) अर्थात् पात्र आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे समाहारद्विगु का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं होता। पात्रादि को आकृतिगण माना जाता है। जहां जहां शिष्टप्रयोगों में समाहारद्विगु से ङीप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं देखा जाता वहां के अकारान्त उत्तरपद को पात्रादियों में परिगणित मान लिया जाता है। 'भुवन' शब्द को भी उन पात्रादियों के अन्तर्गत समझना चाहिये, अतः स्त्रीत्व विवक्षित न होने से यहां ङीप् नहीं होता। **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा नपुंसक का ही प्रयोग होता है।

---

१. **यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।**
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्॥ (नैषध० ३.४०)

२. जैसाकि कहा है—

स्मृत्याऽजादिगणे युक्ता टाबुत्पत्तिर्द्विगोरपि।
त्र्यनीकेति गणे कीर्त्यः स्यादाकृतिगणो हि सः॥

इसीप्रकार—

(१) चतुर्णां युगानां समाहारः—चतुर्युगम् ।
(२) त्रयाणाम् ऊषणानां समाहारः—त्र्यूषणम् (सोंठ, काली मिर्च और पीपर) ।
(३) पञ्चानां पात्राणां समाहारः—पञ्चपात्रम् ।
(४) दशानां मूलानां समाहारः—दशमूलम् ।
(५) पञ्चानां लवणानां समाहारः—पञ्चलवणम् ।

द्विगोः (१२५७) सूत्र में 'अतः' की अनुवृत्ति आ रही है इसलिये अनदन्त द्विगु से ङीप् नहीं होता । यथा—त्रयाणां कटूनां समाहारः—त्रिकटु (कृष्णमरिच, पीपर और सोंठ का समाहार), पञ्चानां धेनूनां समाहारः—पञ्चधेनु, पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पञ्चकुमारि ।

अब अग्रिमसूत्र से ङीप् का पुनः विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५८) **वर्णादनुदात्तात्तोपधात् तो नः ।४।१।३९॥**

वर्णवाचो योऽनुदात्तान्तस्तोपधः, तदन्ताद् अनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् (स्त्रीत्वे) वा ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एता, एनी । रोहिता, रोहिणी ॥

अर्थः—वर्णवाची (रङ्गवाची) जो अनुदात्तान्त तकारोपध शब्द, तदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार आदेश—ये दोनों कार्य विकल्प से हों ।

व्याख्या—वर्णात् ।५।१। अनुदात्तात् ।५।१। तोपधात् ।५।१। तः ।६।१। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । वा इत्यव्ययपदम् (**मनोरौ वा** सूत्र से) । **अतः, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं । समासः—तः=तकार उपधा यस्य स तोपधः, बहुव्रीहिसमासः । न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्माद् अनुपसर्जनात्, नञ्तत्पुरुषः । 'अनुदात्तात्' तथा 'तोपधात्' ये दोनों 'वर्णात्' के विशेषण हैं । प्रथमविशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुदात्तान्तात् तोपधाद् वर्णात्' बन जाता है । वर्णशब्द से यहां वर्णवाची (लाल, पीले आदि रङ्गों के वाची) शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'वर्ण' इस शब्द का नहीं, अन्यथा 'तोपधात्' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा । 'वर्णात्' यह 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'वर्णवाचिशब्दान्ताद् अदन्तात् प्रातिपदिकात्' हो जाता है । 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध 'प्रातिपदिकात्' से है । इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है—(अनुदात्तात्=अनुदात्तान्तात्) अनुदात्त जिस के अन्त में है तथा (तोपधात्) तकार जिस की उपधा है ऐसा (वर्णात्) रङ्गवाची जो शब्द,

तदन्त[1] (अनुपसर्जनात्) अनुपसर्जन (अतः=अदन्तात् प्रातिपदिकात्) अदन्त प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीप् प्रत्ययः) ङीप् प्रत्यय तथा (तः=तकारस्य) वर्णवाचिशब्द के तकार के स्थान पर (नः) न् आदेश—ये दोनों कार्य (वा) विकल्प से हो जाते हैं। **सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार जहां ङीप् होगा वहां पर ही तकार को नकार आदेश होगा। जिस पक्ष में ङीप् न होगा वहां तकार को नकार आदेश भी न होगा।

---

१. तदन्त अर्थात् पूर्वोक्त वर्णवाचक शब्द जिस के अन्त में हो ऐसा अनुपसर्जन अदन्त प्रातिपदिक। लघुकौमुदीस्थ यह सूत्रार्थ भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी से लिया गया है। दीक्षितजी से पूर्व किसी वैयाकरण ने इस सूत्र का ऐसा अर्थ नहीं किया। स्वयं दीक्षितजी ने भी अपनी पूर्वकृति शब्दकौस्तुभ में ऐसा अर्थ नहीं किया। सब वैयाकरण 'अनुपसर्जनात्' को 'वर्णात्' के साथ सम्बद्ध करते चले आ रहे थे। परन्तु दीक्षितजी ने उसे 'वर्णात्' के साथ सम्बद्ध न कर तदन्त अर्थात् वर्णवाचिशब्दान्त के साथ सम्बद्ध कर दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने ऐसा क्यों किया? आइये, इस पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं—

पारस्करगृह्यसूत्र आदियों में चूडाकरणप्रकरण के अन्तर्गत शल्यक (साही) के परों से बनी हुई शललीनाम से प्रसिद्ध एक सूची का वर्णन आता है—**त्रेण्या शलल्या विनीय केशान्**—(पारस्कर० २.१) अर्थात् तीन जगह श्वेतरङ्गवाली शललीनामक सूची से केशों को—। यहां शलली के विशेषण 'त्र्येणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'त्र्येणी' का विग्रह करते हुए गृह्यवृत्तिकार इसे बहुव्रीहि (त्रीणि एतानि यस्याः) मान कर प्रकृतसूत्र से ङीप्+नत्व का विधान करते हैं और णत्व को आर्ष मानते हैं। परन्तु बहुव्रीहि में सब पद उपसर्जन होते हैं अतः यहां का 'एत' शब्द भी उपसर्जन हुआ। अब यदि 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध 'वर्णात्' (वर्णवाचिनः) से करते हैं तो 'एत' से ङीप्+नत्व नहीं हो सकता क्योंकि वह उपसर्जन है। अतः वृत्तिकार की व्याख्या के अनुरोध से उस की व्याख्या को सत्यापित करने के लिये दीक्षितजी ने 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध वर्णवाची से न कर वर्णवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक से कर दिया है। इस से वृत्तिकार के मत में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि वर्णवाची के उपसर्जन होने पर वर्णवाचिशब्दान्त समुदाय तो अनुपसर्जन है ही। अतः 'त्र्येत' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्+नत्व सिद्ध हो जाता है।

परन्तु भाष्यमर्मज्ञ नागेशभट्ट का कहना है कि ऐसा मानना महाभाष्य के स्वारस्य से विरुद्ध है। गृह्यमाण 'वर्णात्' के साथ ही 'अनुपसर्जनात्' को सम्बद्ध करना चाहिये। उन का यह भी कहना है कि गृह्यसूत्र के उपर्युक्त 'त्र्येणी' शब्द में बहुव्रीहिसमास न मान कर 'त्रिषु एणी' इस प्रकार सुंप्सुंपासमास मानना उचित है। विशेषजिज्ञासु शेखरद्वय का अवलोकन करें।

वर्ण (रङ्ग) के वाचक शब्द हमेशा दो तरह का अर्थ दिया करते हैं। एक तो वे गुणवाचक हो कर सुफेद, लाल, नीले, पीले आदि रङ्गों को प्रकट करते हैं। दूसरे वे उस उस रङ्ग वाले पदार्थ के भी वाचक होते हैं। यथा—'श्वेत' शब्द जहां श्वेतगुण का वाचक है वहां श्वेतगुणयुक्त पदार्थ का भी वाचक है। गुणवाची होने पर इस का प्रयोग पुंलिङ्ग में तथा गुण वाले पदार्थ का वाचक होने पर इस का प्रयोग विशेष्यानुसार तीनों लिङ्गों में होता है। अत एव अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति**। व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार गुणवाचक श्वेत आदि शब्दों से **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा विहित मतुँप् प्रत्यय का **गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः** (वा० ९०) इस वार्त्तिक से लुक् हो जाता है। इस प्रकार गुणवाचक शब्द तत्तद्गुण वाले पदार्थों के भी वाचक हो जाते हैं। तब वे विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—श्वेतः पटः, श्वेता शाटिका, श्वेतं वस्त्रम् आदि।

सूत्र के उदाहरण यथा—

'एत' (चितकबरा, रङ्गबिरङ्गा, नाना रङ्गों वाला) शब्द[1] वर्णवाची है। इस का अन्त्य अकार **वर्णानां त-ण-ति-नि-तान्तानाम्** (फिट्सूत्र ३३)[2] के अनुसार अनुदात्त है। इस की उपधा में तकार विद्यमान है। व्यपदेशिवद्भाव से इसे तदन्त भी माना जा सकता है। इस की किसी सूत्र के द्वारा उपसर्जनसञ्ज्ञा भी नहीं की गई है। अतः इस अदन्त 'एत' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (१२५८) द्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है। ङीप्पक्ष में तकार को नकार आदेश एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'एनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस

---

१. **चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे**—इत्यमरः। एतशब्दः श्वेतपर्याय इति कल्पसूत्रव्याख्यातारो धूर्त्तस्वामि-भवस्वामि-हरदत्तप्रभृतयो याज्ञिका इति बालमनोरमा।

२. अर्थः—जिस वर्णवाची शब्द के अन्त में त, ण, ति, नि अथवा त् हो उस शब्द का आदि अच् उदात्त हो जाता है। जब किसी पद में एक स्वर उदात्त हो जाता है तब **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) सूत्र से उस पद के शेष सब स्वर अनुदात्त हो जाते हैं।

'त' अन्त वाला वर्णवाची यथा—एतः, रोहितः।

'ण' अन्त वाला वर्णवाची यथा—शोणः।

'ति' अन्त वाला वर्णवाची यथा—शितिः।

'नि' अन्त वाला वर्णवाची यथा—पृश्निः।

'त्' अन्त वाला वर्णवाची यथा—पृषत्।

इन सब का आदि स्वर उदात्त विधान किया गया है अतः शेष सब स्वर अनुदात्त हैं। इस प्रकार ये शब्द अनुदात्तान्त समझने चाहियें।

पक्ष में ङीप् + नत्व नहीं होता वहां **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'एता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार 'रोहित' (लाल रङ्ग वाला) प्रातिपदिक से 'रोहिणी' और 'रोहिता', 'श्येत' (सुफेद रङ्गवाला) प्रातिपदिक से 'श्येनी' और 'श्येता', 'हरित' प्रातिपदिक से 'हरिणी' और 'हरिता' दो दो रूपों की सिद्धि होती है।

वर्णवाची शब्द के अन्त में यदि अनुदात्त न होगा तो प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति न होगी। यथा 'श्वेत' शब्द का अन्त्य अकार **घृतादीनां च** (फिट्सूत्र २१)[1] इस फिट्सूत्र मे उदात्त है अतः ङीप् + नत्व नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'श्वेता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वर्णवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक अदन्त होना चाहिये तभी प्रकृतसूत्र से ङीप् + नत्व की प्रवृत्ति होती है। 'शिति' शब्द धवल-रङ्ग का वाचक है, **वर्णानां तणतिनितान्तानाम्** (फिट्सूत्र ३३) के अनुसार अनुदात्तान्त है और तोपध भी। पर अदन्त न हो कर इदन्त है अतः प्रकृतसूत्र से ङीप् + नत्व नहीं होता। अदन्त न होने से अदन्तलक्षण टाप् भी नहीं होता। स्त्रीत्व में भी वैसे का वैसा रहता है। यथा—शितिर्ब्राह्मणी।

अमरकोष में—**अवदातः सितो गौरः** इस प्रकार अवदातशब्द श्वेतार्थक कहा गया है। परन्तु **पुंयोगादाख्यायाम्** (४.१.४८) सूत्रस्थ महाभाष्य के अनुसार वह स्वच्छ या विशुद्ध अर्थ का ही वाचक है[2]। साधर्म्य के कारण उसे सित या गौर कह दिया जाता है। अतः **लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः** (फिट्सूत्र ४२)[3] इस फिट्सूत्र से अनुदात्तान्त होते हुए भी वर्णवाची न होने से इस में प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है—अवदाता कीर्तिः।

नोट—असित (काला) और पलित (श्वेत) शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् + नत्व नहीं होता—**असितपलितयोर्न** (वा०)[4]। अतः अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है—असिता, पलिता।

जिन की उपधा में तकार नहीं होता ऐसे वर्णवाची अनुदात्तान्त शब्दों से स्त्रीत्व

---

१. अर्थः—घृत आदि शब्दों का अन्त्य स्वर उदात्त होता है।

२. अवदातायां ङीप् प्राप्नोति—अवदाता ब्राह्मणी, **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (४.१.३९) इति। नैष वर्णवाची। किन्तर्हि विशुद्धवाची। आतश्च विशुद्धवाची—
त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवे ! विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥ (महाभाष्य ४.१.४८)

३. अर्थः—जिसके अन्त में एक लघु या दो लघु हों, ऐसे बहुत अचों वाले प्रातिपदिक का गुरु उदात्त हो जाता है।

४. अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में असित और पलित शब्दों में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (१२५८) सूत्र द्वारा ङीप् + नत्व की प्रवृत्ति नहीं होती।

की विवक्षा में **अन्यतो ङीष्** (४.१.४०)[1] सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय का विधान किया जाता है। ङीप् और ङीष् करने में पद के स्वर में ही अन्तर पड़ जाता है—यह हम पीछे बता चुके हैं। कल्माषी, शबली, सारङ्गी। कृष्ण और कपिल शब्द अनुदात्तान्त नहीं अपितु उदात्तान्त हैं अतः इन से टाप् ही होता है—कृष्णा कपिला वा गौः।

अब उदन्त गुणवाचकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(१२५६) वोतो गुणवचनात्** ।४।१।४४।।

उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष्[2] स्यात्। मृद्वी, मृदुः ॥

अर्थः—ह्रस्व उकारान्त गुणवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। उतः ।५।१। गुणवचनात् ।५।१।। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। यहां सूत्रगत 'गुण' शब्द से **अदेङ् गुणः** (२५) वाला पारिभाषिक गुण नहीं लेना चाहिये वरन् उस का 'उतः' विशेषण संगत न हो सकेगा। गुणम् उक्तवान् इति गुण-वचनः, कर्तरि भूते ल्युट्। जो शब्द गुण को कह कर उस गुणयुक्त द्रव्य को कहता है उसे गुणवचन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि गुणविशिष्ट द्रव्य के वाचक को गुणवचन कहते हैं। मृदु (कोमल), लघु (छोटा), गुरु (भारी), पटु (चतुर), साधु (ठीक, युक्त, भला), तनु (पतला) आदि शब्द गुणवचन हैं। 'उतः' यह 'गुणवचनात् प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्ताद् गुणवचनात् प्रातिपदिकात्'

---

१. अर्थः—तकारोपध से भिन्न अन्य वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

२. अत्र क्वचिद् ङीप् इति पाठान्तरमुपलभ्यते। तत्तु अत्रत्यं वार्त्तिकं भाष्यञ्चा-श्रित्योक्तं प्रतीयते। तथा चाऽत्र भाष्यम्—

गुणवचनाद् ङीब् आद्युदात्तार्थः (वा०)। गुणवचनाद् ङीब् वक्तव्यः। किं प्रयो-जनम्? आद्युदात्तार्थः। आद्युदात्ताः प्रयोजयन्ति। वस्वी। पट्वी ॥

(महाभाष्य ४.१.४४)

वसुपटुशब्दौ नित्स्वरेण आद्युदात्तौ गुणवचनौ। ताभ्यां ङीपि ईकारोऽनुदात्तः पित्त्वात्। आभ्यां यदि ङीष् स्यात्तदा प्रत्ययस्वरेण ङीष ईकार उदात्त इत्यनिष्टं प्रसज्येत। अन्तोदात्ताद् मृद्वादिप्रातिपदिकाद् ङीब्ङीषोर्नास्ति विशेषः। **उदात्त-यणो हल्पूर्वात्** (६.१.१६८) इति ङीप उदात्तत्वविधानात्। तस्मादत्र ङीपो विधानमेव न्याय्यम्। तथा चोक्तं शब्दकौस्तुभे दीक्षितैः—

इदं सूत्रमपनीय **मनोरौ वा** (४.१.३८) इत्यस्मादनन्तरं 'गुणवचनादुतः' इति पाठ्यम्। उत्तरसूत्रं तु स्वस्थाने एव वाशब्दसहितम्पाठ्यम्—बह्वादिभ्यो वा इति। तेनाद्युदात्तेषु गुणवचनेषु ङीपि स्वरः सिध्यति (शब्दकौस्तुभ ४.१.४४)।

बन जाता है। अर्थः—(उतः=उदन्तात्) उदन्त (गुणवचनात्) गुणवाची (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। उदाहरण यथा—

'मृदु' यह उदन्त प्रातिपदिक है जो मृदुत्वविशिष्ट द्रव्य का वाचक होने से गुणवचन है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय, ङीष् के अनुबन्धों का लोप तथा **इको यणचि** (१५) से उकार को यण्=वकार कर विभक्ति लाने से 'मृद्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। ङीष् के अभाव में 'मृदुः' ही रहेगा। मृद्वीयं लता, मृदुरियं लता—दोनों तरह से प्रयोग हो सकता है।

इसीतरह—'तनु' से तन्वी और तनुः; 'पटु' से पट्वी और पटुः; 'गुरु' से गुर्वी और गुरुः; 'लघु' से लघ्वी और लघुः; 'पृथु' से पृथ्वी और पृथुः; 'साधु' से साध्वी और साधुः इत्यादिप्रकारेण प्रयोग जानने चाहियें।

खरुसंयोगोपधान्न (वा०)—खरु (मूर्ख, कठोर, क्रूर, श्वेत आदि) तथा संयोगोपध गुणवचनों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती—खरुर्ब्राह्मणी। संयोगोपध से—पाण्डुरियं लता।

उदन्त प्रातिपदिक यदि गुणवाची न होगा तो उस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा। यथा—आखुरियम् (यह चुहिया है)। 'आखु' शब्द गुणवाचक नहीं अपितु द्रव्यवाचक है अतः उस से स्त्रीत्व में भी ङीष् नहीं हुआ।

विशेष वक्तव्य—इस सूत्र में 'गुण' से क्या अभिप्रेत है? इस के लिये महाभाष्य (४.१.४४) में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया गया है—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाऽक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥[2]

इस श्लोक की खण्डशः व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

सत्त्वे निविशते—जो पदार्थ केवल सत्त्व (द्रव्य) में ही निवेश करता या ठहरता है उसे गुण कहते हैं। इतने कथन से सत्ता जाति की व्यावृत्ति हो जाती है, सत्ता को गुण नहीं कहा जा सकता। कारण कि सत्ता केवल द्रव्य में ही नहीं रहती अपितु द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती है। अच्छा तो द्रव्यत्वजाति केवल द्रव्य में ही रहती है, इस लक्षण से वह भी गुण होने लगेगी। इस पर कहते हैं—**अपैति**। अर्थात् गुण पदार्थ द्रव्य से दूर भी हो जाता है। यथा पकने पर आम्र में नीलिमा हट कर पीतिमा आ जाती है। पर द्रव्यत्वजाति तो द्रव्य से तीनों कालों में कभी नहीं हटती, इसलिये द्रव्यत्व-

---

१. **शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता।**
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥ (साहित्यदर्पणे)

२. जो द्रव्य में रहता है, द्रव्य से हट भी जाता है, नानाविध जातियों में रहता हुआ उत्पाद्य भी है और अनुत्पाद्य भी, ऐसे द्रव्यभिन्न पदार्थ को गुण कहते हैं।

जाति को गुण नहीं कहा जा सकता । **सत्त्वे निविशतेऽपैति**— इस लक्षण पर पुनः एक शङ्का उत्पन्न होती है कि गोत्वजाति जो गोव्यक्तियों में तो नित्य विद्यमान रहती है पर अश्व आदियों से व्यावृत्त रहती है तो इस लक्षण के अनुसार वह भी गुण होने लगेगी । इस दोष की निवृत्ति के लिये लक्षण में जोड़ते हैं—**पृथग्जातिषु दृश्यते** । अर्थात् गुण पदार्थ द्रव्य की नाना जातियों में दिखाई देता है । जैसे मेघ में दीखने वाली नीलिमा तृणादियों में भी देखी जाती है । गोत्वजाति तो द्रव्य की अन्य अश्वत्व आदि जातियों में नहीं रहती । इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्धोक्त **सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते** इस गुणलक्षण से किसी प्रकार की जाति गुण के अन्तर्गत नहीं आती ।

अच्छा ! तो इस लक्षण के अनुसार कर्म भी गुण होने लगेगा । कर्म भी द्रव्यों में स्थित रहता है, उन से हट भी जाता है तथा नानाजातियों में भी देखा जाता है । इस के परिहार के लिये कहते हैं—**आधेयश्चाक्रियाजश्च** । अर्थात् गुण-पदार्थ आधेय[1] (उत्पाद्य) भी होता है और अक्रियाज[2] (अनुत्पाद्य) भी । जैसे घटादिगत रक्तिमादि गुण पाकक्रियाजन्य होने से उत्पाद्य है और आकाश में रहने वाला महत्त्व गुण नित्य होने से अनुत्पाद्य है । परन्तु कर्म तो हमेशा उत्पाद्य ही होता है अतः वह गुण न होगा ।

अच्छा ! **सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते । आधेयश्चाऽक्रियाजश्च** इतना कहने पर द्रव्यपदार्थ में अतिव्याप्ति होगी वह भी गुण कहलाने लगेगा । द्रव्य घटादि अवयवी अपने कपाल आदि द्रव्यरूप अवयवों में अवस्थित होता है और असमवायिकारण संयोग के नाश होते ही उन अवयवों से हट जाता है । घट पट आदि अनेक जातियों में रहता है और यह उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दोनों प्रकार का हुआ करता है, घटपटादि अनित्यद्रव्य उत्पाद्य तथा आकाशादि नित्यद्रव्य अनुत्पाद्य हैं । इस के परिहार के लिये कहते हैं—**सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः** । गुण असत्त्वप्रकृति अर्थात् द्रव्यरूप नहीं होता । इस प्रकार जातिभिन्न क्रियाभिन्न तथा द्रव्यभिन्न गुण होते हैं यह निर्दोष लक्षण प्राप्त होता है । परन्तु इस लक्षण को अनेक वैयाकरण सर्वथा ठीक नहीं मानते । उन का कथन है कि भाष्य में यह एकदेशी की उक्ति है, भाष्यकार का स्वमन्तव्य नहीं । अत एव भाष्य में इस कारिका की व्याख्या नहीं की गई । उन का कथन है कि **आकडारादेका सञ्ज्ञा** (१.४.१) के भाष्य में जो गुण का लक्षण किया गया है वही युक्त है । वहां कहा गया है कि समास, कृदन्त, तद्धितान्त, अव्यय, सर्वनाम, जाति, संख्या तथा संज्ञाशब्दों को छोड़ कर अन्य अर्थवान् शब्द गुणवाचक होते हैं । शेखरकार नागेशभट्ट इसी लक्षण को ही निर्दुष्ट मानते हैं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः ङीष् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

---

१. आधातुं योग्य आधेयः, उत्पाद्य इत्यर्थः ।

२. क्रियया जायत इति क्रियाजः, न क्रियाजः—अक्रियाजः । अनुत्पाद्य इत्यर्थः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(१२६०) बह्वादिभ्यश्च** ।४।१।४५॥

एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वीः । बहुः ॥

अर्थः—बहु आदि गण में पठित प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् (**वोतो गुणवचनात्** सूत्र से) । ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । 'प्रातिपदिकात्' का बहुवचनान्त में विपरिणाम हो कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बन जाता है । समासः—बहुः (बहुशब्दः) आदिर्येषान्ते बह्वादयः, तेभ्यः=बह्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(बह्वादिभ्यः) बहु आदि (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

बहु (बहुत, विपुल) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) इस प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय, ङकार और षकार अनुबन्धों का लोप एवम् **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'बह्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ङीष् के अभाव में विभक्ति ला कर 'बहुः' ही रहेगा । बह्वी सम्पत्, बहुः सम्पत् । **एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सपतयः**—(ऐत० ब्रा० ३.२३) । **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**—(तै० आ० १०.१०.१) ।

कुछ लोगों का विचार है कि बहुशब्द गुणवचन है अतः इस से **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) इस पूर्वसूत्रद्वारा ही वैकल्पिक ङीष् सिद्ध था, यहां उस का ग्रहण अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये ही किया गया है । परन्तु अन्य वैयाकरणों का कहना है कि बहुशब्द **बहुगणवतुडति संख्या** (१८६) द्वारा संख्यासंज्ञक है, संख्याशब्दों को पीछे महाभाष्य-प्रमाणानुसार गुणवचन माना नहीं गया, इसलिये यहां उस से विधान करना पड़ा है ।

अब बह्वादिगण के अन्तर्गत दो गणसूत्रों का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)—**कृदिकारादक्तिनः** ॥

रात्री । रात्रिः ॥

अर्थः—कृत्प्रत्ययसम्बन्धी इकार, जो क्तिन् का अवयव न हो, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो जाता है ।

व्याख्या—कृदिकारात् ।५।१। अक्तिनः ।५।१। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । यह **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रस्थ बह्वादिगण का एक गणसूत्र है अतः वैकल्पिक ङीष् का विधान करता है । कृत इकारः कृदिकारः, तस्मात् =कृदिकारात्, षष्ठीतत्पुरुषः । न क्तिन् अक्तिन्, तस्माद्=अक्तिनः, नञ्तत्पुरुषः । ये दोनों समस्त पद 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं । अर्थः—(कृदिकारात्) कृत् प्रत्यय का

जो इकार तदन्त (अक्तिनः) क्तिन्भिन्नप्रत्ययान्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—

रात्रि (रात) शब्द **रा दाने** (अदा० परस्मै०) धातु से **राशदिभ्यां त्रिप्** (उणादि० ४.६७) इस औणादिकसूत्रद्वारा त्रिप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस के अन्त में कृत्संज्ञक त्रिप् प्रत्यय का इकार मौजूद है, किञ्च इस के अन्त में क्तिन् प्रत्यय भी नहीं है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) इस गणस्थ के **कृदिकारादक्तिनः** इस गणसूत्र से वैकल्पिक ङीष् प्रत्यय हो जाता है। ङीष्पक्ष में **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'रात्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ङीष् के अभाव में 'रात्रिः' रहेगा। इसीप्रकार—

राजी, राजिः (पङ्क्ति)। वापी, वापिः (बावड़ी)। ओषधी, ओषधिः (वनस्पति)। दर्वी, दर्विः (कड़छी)। धरणी, धरणिः (पृथ्वी)। भूमी, भूमिः। श्रेणी, श्रेणिः (पङ्क्ति)। श्रोणी, श्रोणिः (कमर)। रजनी, रजनिः (रात)। धमनी, धमनिः (नाडी)। अवनी, अवनिः (पृथ्वी)। खनी, खनिः (खान)। तमी, तमिः (अन्धेरी रात)। इत्यादिप्रयोग जानने चाहियें।

'अक्तिनः' कथन के कारण—कृतिः, स्तुतिः, मतिः, नीतिः, रीतिः इत्यादियों में इस ङीष् की प्रवृत्ति नहीं होती।

अब दूसरे गणसूत्र को निर्दिष्ट करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)——सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके ॥

शकटी। शकटिः ॥

अर्थः—कई आचार्यों का मत है कि क्तिन्नर्थकप्रत्ययान्तों से भिन्न किसी भी इदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—सर्वतः इत्यव्ययपदम् (पञ्चम्यर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः)। अक्तिन्नर्थात् ।५।१। 'इति' इत्यव्ययपदम्। एके ।१।३। यह गणसूत्र पूर्वोक्त गणसूत्र को लक्ष्य में रख कर बनाया गया है। समासः—क्तिनोऽर्थो यस्य सः=क्तिन्नर्थः, व्यधिकरणबहुव्रीहिः। न क्तिन्नर्थः=अक्तिन्नर्थः, तस्मात्=अक्तिन्नर्थात्, नञ्तत्पुरुषः। यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः तदन्तविधि हो कर 'क्तिन्नर्थकभिन्नप्रत्ययान्ताद् इदन्तप्रातिपदिकात्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अक्तिन्नर्थात्) क्तिन्नर्थकप्रत्ययान्तों से भिन्न (सर्वतः) सब तरह के[1] (इतः=इदन्तात्) इदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है (इति) ऐसा (एके) कई आचार्य कहते हैं।

यह गणसूत्र पूर्वगणसूत्र से दो बातों में अधिक व्यापक है—

---

१. सर्वतः=सब तरह का। अर्थात् इकार चाहे कृत् का हो या अकृत् का।

[१] पूर्वगणसूत्र में केवल कृत्सम्बन्धी इकारान्त प्रातिपदिकों से ही ङीष् का वैकल्पिक विधान किया गया था। परन्तु इस में कृत् या अकृत् किसी से भी सम्बद्ध इकारान्त प्रातिपदिक से ङीष् का वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। यथा 'शकटि' (छोटा छकड़ा) शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस के अन्त में न तो क्तिन् प्रत्यय है और न ही क्तिन्नर्थक कोई अन्य प्रत्यय, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** इस प्रकृतगणसूत्र से ङीष् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। ङीष्पक्ष में भसंज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'शकटी' एवं ङीष् के अभाव में 'शकटिः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

[२] पूर्वगणसूत्र में केवल क्तिन्प्रत्ययान्तों से ही ङीष् का निषेध किया गया था परन्तु इस में क्तिन्नर्थक किसी भी प्रत्यय के करने पर इदन्त से ङीष् का निषेध कहा गया है। पूर्वोक्त कृतिः, स्तुतिः, मतिः आदि तो इस के प्रत्युदाहरण हैं ही, किन्तु अजननिः, अकरणिः इत्यादि क्तिन्नर्थक-अनिप्रत्ययान्तों (३.३.११२) से भी ङीष् का निषेध सिद्ध हो जाता है[१]।

बह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) **पद्धति**[२]—पद्धती, पद्धतिः (पगडण्डी, मार्ग)।

(२) अंहति—अंहती, अंहतिः (दान, कष्ट, रोग)।

(३) वहति—वहती, वहतिः (नदी)।

(४) शक्ति—शक्ती; शक्तिः (बरछी)।[३]

(५) अहि—अही, अहिः (सर्पिणी)।

(६) कपि—कपी, कपिः (वानरी)।

---

१. **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.९४) के अधिकार में यह सूत्र पढ़ा गया है—
आक्रोशे नञ्यनिः (३.३.११२)। अर्थः—आक्रोश गम्यमान हो तो नञ् के उपपद रहते स्त्रीत्व की विवक्षा में धातु से भाव आदि में कृत्संज्ञक 'अनि' प्रत्यय हो जाता है। यथा—**जनीँ प्रादुर्भावे** (दिवा० आत्मने०) से—अजननिः, **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) से—अकरणिः। **न लोपो नञः** (९४७) से नञ् के नकार का लोप हो जाता है। अजननिस्ते शठ! भूयात् (रे दुष्ट! तेरा जन्म न रहे अर्थात् तू मर जाये)। अकरणिस्ते दुष्ट! भूयात् (ऐ दुष्ट! तेरी करनी का नाश हो)।

२. पादाभ्यां हन्यत इति पद्धतिः। हन्धातोः कर्मणि क्तिनि धातोर्नकारलोपे, समासे सुँब्लुकि **हिम-काषि-हतिषु च** (६.३.५३) इति पादस्य पदादेशे रूपसिद्धिः। क्तिन्नन्त से गणसूत्रों द्वारा ङीष् का निषेध कहा गया है परन्तु गण में पाठसामर्थ्य से यहां ङीष् हो जाता है, निषेध नहीं होता।

३. **शक्तिः शस्त्रे**—इस गणसूत्र से शस्त्र (बरछी) अर्थ में ही इस का बह्वादिगण में पाठ माना गया है अन्यत्र नहीं। अतः सामर्थ्यवाची शक्तिशब्द से ङीष् न होगा। यथा—शक्तिः (सामर्थ्यम्)।

(७) यष्टि—यष्टी, यष्टिः (छड़ी) ।
(८) मुनि—मुनी, मुनिः (वानप्रस्थ स्त्री) ।
(९) चण्ड—चण्डी, चण्डा (अत्यन्त कोपशीला) ।
(१०) पुराण—पुराणी, पुराणा (पुरानी) ।
(११) चन्द्रभाग—चन्द्रभागी, चन्द्रभागा (चिनाब नदी) ।
(१२) विकट—विकटी, विकटा (विकराल, विशाल) ।
(१३) विशाल—विशाली, विशाला ।
(१४) कृपाण—कृपाणी, कृपाणा ।
(१५) कल्याण—कल्याणी, कल्याणा ।

विशेष जिज्ञासु बह्वादिगण का अवलोकन करें ।[1]

अब पुंयोग में स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६१) पुंयोगादाख्यायाम् ।४।१।४८ ॥

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्त्तते ततो ङीष् । गोपस्य स्त्री गोपी ॥

अर्थः—पुरुष के साथ सम्बन्ध के कारण जब पुंवाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हो तो उस अदन्त प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—पुंयोगात् ।५।१। आख्यायाम् ।७।१। (**छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति**—इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी) । ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । **स्त्रियाम्, अतः, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—पुंसो योगः पुंयोगः, तस्मात् = पुंयोगात्, षष्ठीतत्पुरुषः । **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) इति हेतौ पञ्चमी । आख्यायते बोध्यतेऽर्थोऽनयेति आख्या, **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) इत्यङ्-प्रत्ययः । वाचकः शब्द इत्यर्थः । कस्य वाचक इत्याकाङ्क्षायाम् 'पुंयोगाद्' इत्युपस्थितत्वात् पुंस इति लभ्यते तेन पुंसि प्रसिद्धात् शब्दादिति गम्यते । अर्थः—(पुंयोगात्) पुरुष के सम्बन्ध के कारण जब (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (पुंसः आख्यायाः) पुरुष वाचक शब्द प्रयुक्त होता है तो उस (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे

---

१. बह्वादिगण यथा—बहु । पद्धति । अञ्चति । अङ्कति । अंहति । शकटि । **शक्तिः शस्त्रे** (गणसूत्रम्) । शारि । वारि । राति । राधि (शाधि) । अहि । कपि । यष्टि । मुनि । **इतः प्राण्यङ्गात्** (गणसूत्रम्) । **कृदिकारादक्तिनः** (गणसूत्रम्) । **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्रम्) । चण्ड । अराल । कृपण (कृपाण) । कमल । विकट । विशाल । विशङ्कट । भरुज । ध्वज । **चन्द्रभागान्नद्याम्** (**चन्द्रभागा नद्याम्**—गणसूत्रम्) । कल्याण । उदार । पुराण । अहन् । क्रोड । नख । खुर । शिखा । बाल । शफ । गुद । **आकृतिगणोऽयम्** । तेन भग, गल, राग इत्यादि । इति बह्वादयः । [यह गण शोधनापेक्ष है] ।

(ङीष् प्रत्ययः) ङीष् प्रत्यय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि पुंलिङ्ग के लिये प्रयुक्त होने वाला अदन्त प्रातिपदिक यदि पतिपत्नीभावसम्बन्ध के कारण स्त्री के लिये भी प्रयुक्त होने लगे तो उस से ङीष् प्रत्यय हो जाता है। जैसे हिन्दी में चौधरी की स्त्री को चौधरायन, पण्डित की स्त्री को पण्डितायन या पण्डितानी आदि कहा जाता है वैसे संस्कृत में भी इस प्रकार के प्रयोग ङीष् प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण यथा—

गोपस्य स्त्री (पत्नी)—गोपी (गोप अर्थात् ग्वाले की पत्नी[1])। गोपशब्द गौओं का पालन करने के कारण मुख्यतया पुंलिङ्ग है। पतिपत्नीभावसम्बन्ध के कारण इस का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होता है। तब इस से **पुंयोगादाख्यायाम् (१२६१)** इस प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् (ई) प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'गोपी' (ग्वालिन) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]।

इसीप्रकार—गणकस्य पत्नी गणकी (ज्योतिर्विद् की पत्नी), महापात्रस्य पत्नी महापात्री (प्रधानमन्त्री की पत्नी), गिरिशस्य पत्नी गिरिशी (शिव की पत्नी, पार्वती)। इत्यादि।

सूत्र में 'पुंयोगात्' इस लिये कहा है कि 'देवदत्ता' में ङीष् न हो जाये। यहां किसी स्त्री का 'देवदत्ता' यह स्वतः नाम है पुंयोग के कारण नहीं। 'आख्या' ग्रहण इसलिये किया है कि वह शब्द पुरुषवाचक होना चाहिये अन्यथा ङीष् न होगा। यथा— प्रसूता (प्रसूत हुई औरत)। यहां यद्यपि प्रसव पुंयोग के कारण हुआ है तथापि वह पुमाख्या नहीं। किञ्च इस सूत्र में 'अतः' का अनुवर्त्तन होने से अदन्त प्रातिपदिक से ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, इसलिये सहिष्णोर्भार्या सहिष्णुः। यहां उकारान्त 'सहिष्णु' शब्द से ङीष् नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—पुंयोग = पुरुषसम्बन्ध से यहां केवल दाम्पत्यसम्बन्ध (पति-पत्नीभावसम्बन्ध) ही नहीं समझना चाहिये अपितु पितापुत्रीभाव आदि अन्य सम्बन्ध भी ग्रहण किये जा सकते हैं - ऐसा प्रौढमनोरमा में भट्टोजिदीक्षित तथा तत्त्वबोधिनी में ज्ञानेन्द्रसरस्वती का कथन है। प्रक्रियासर्वस्वकार ने भी यहां स्पष्ट कहा है—

क्वचित्पुत्र्यामपि हरः पुंयोगे ङीषमिच्छति।
केकयी केकयसुता देवकी देवकात्मजा ॥

अत एव भट्टिकाव्य में—

कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राक्केकयीतो भरतस्ततोऽभूत्। (भट्टि० १.१४)

---

१. गाः पाति (रक्षति) इत्यर्थे आतोऽनुपसर्गे कः (७६१) इति कप्रत्यये, उपपदसमासे 'गोपः' इति। तस्य स्त्रियां यदि गोपशब्दो लक्षणया वर्त्तते तदा ङीष्।

२. यदि स्त्री, पति के कारण 'गोप' न हो कर स्वयं गौओं का पालन करने के कारण 'गोप' होगी तब ङीष् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होगा—गोपा।

'केकयीतः' यह प्रयोग उपपन्न हो जाता है। तथाहि—केकयदेश का राजा भी केकय कहलायेगा। 'केकयस्य दुहिता' इस अर्थ में पुंयोग (पितापुत्रीभावसम्बन्ध) के कारण **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर 'केकयी' प्रयोग निष्पन्न होता है। अन्यथा—'केकयस्यापत्यं स्त्री' इस अर्थ में **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) से अपत्यार्थ में अञ् प्रत्यय हो कर **केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः** (७.३.२) सूत्रद्वारा 'य' को 'इय' आदेश, गुण, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'कैकेयी' रूप बनता[1]। इसीप्रकार—देवकस्य दुहिता देवकी, रेवतस्य सुता रेवती आदि में पितापुत्रीभावसम्बन्धरूप पुंयोग में ङीष् समझना चाहिये। भगिनीभ्रातृभाव-सम्बन्धरूप पुंयोग में भी यह ङीष् देखा जाता है। यथा—श्यालस्य भगिनी श्याली, यमस्य भगिनी यमी।

परन्तु महाभाष्य के मर्मवित् नागेशभट्ट इस से सहमत नहीं। उन का यह मन्तव्य है कि पुंयोग से दाम्पत्यरूपसम्बन्ध का ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि—**यथैवासावकुर्वती किञ्चित्पापं भर्तृकृतान् वधबन्धनादीन् क्लेशान् लभते एवं—शब्दमपि लभते** (महाभाष्य ४.१.४८)—भाष्य के इस उद्धरण से दाम्पत्यरूपसम्बन्ध की ही प्रतीति स्पष्ट होती है। केकयी, देवकी, रेवती आदि प्रयोग गौरादिगण को आकृतिगण मान कर ङीष् करने से सिद्ध करने चाहियें। यहां पर शेखरद्वय द्रष्टव्य हैं।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा पुंयोग में पालकान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् का निषेध करते हैं—

[लघु०]वा०—(१०२) पालकान्तान्न ॥

गोपालिका। अश्वपालिका ॥

अर्थः—'पालक' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा मे पुंयोग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

व्याख्या—पालकान्तात् ।५।१। न इत्यव्ययपदम्। यह वार्त्तिक महाभाष्य मे **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः इस निषेध को तद्विषयक ही समझना चाहिये। पालकशब्दोऽन्तः (अन्तावयवः) यस्य स पालकान्तः, तस्मात्=पाल-कान्तात्। बहुव्रीहिसमासः। पालक-अन्त वाले शब्द गोपालक[2], अश्वपालक, पशुपालक, प्रजापालक आदि होते हैं।

---

१. न च अञः **अतश्च** (४.१.१७५) इति स्त्रियां लुक् स्यादिति वाच्यम्, केकयशब्दस्य भर्गादौ पाठेन **न प्राच्य-भर्गादि-यौधेयादिभ्यः** (४.१.१७६) इति लुको निषेधात्।

२. अत्र पालयतीति पालकः (ण्वुलि वोरकादेशः, णिलोपश्च), गवां (कर्मणि षष्ठी) पालकः—गोपालकः इत्येवं समासो नैव कार्यः, **तृजकाभ्यां कर्तरि** (२.२.१५) इति समासनिषेधप्रसङ्गात्। शेषषष्ठ्या समासश्चेत्तदपि न, तथा सति टापः सुंपः

गोपालकस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—गोपालिका (गोपालक अर्थात् ग्वाले की पत्नी)। 'गोपालक' शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता है, परन्तु अन्त में पालकशब्द होने के कारण प्रकृत-वार्त्तिक **पालकान्तान्न** (वा० १०२) से उस का निषेध हो जाता है। अब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धों का लोप, वक्ष्यमाण **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने पर 'गोपालिका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अश्वपालकस्य भार्या—अश्वपालिका। पशुपालकस्य स्त्री—पशुपालिका। द्वारपालकस्य स्त्री—द्वारपालिका। भूपालकस्य पत्नी—भूपालिका। इत्यादि प्रयोग जानने चाहियें।[1]

गोपालकशब्द से टाप् प्रत्यय करने पर 'गोपालक+आ' इस स्थिति में इत्त्वविधायकसूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६२) प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः ।७।३।४४।।

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याकारस्य इकारः स्याद् आपि, स आप् सुँपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम् ? नौका। प्रत्ययस्थात् किम् ? शक्नोतीति शका। असुँपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी।।

अर्थः—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो यदि आप् (टाप्, डाप्, चाप्) प्रत्यय परे हो तो, परन्तु वह आप् सुँप् से परे नहीं होना चाहिये।

व्याख्या—इस सूत्र में सात पद हैं—प्रत्ययस्थात् ।५।१। कात् ।५।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः)। पूर्वस्य ।६।१। अतः ।६।१। इत् ।१।१। आपि ।७।१। असुँपः

परत्वेन **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) इत्यनेन इत्त्वस्य दुर्लभत्वात्। अतोऽत्रेत्थम्प्रक्रियाऽवसेया—

गां पालयतीति विग्रहे **कर्मण्यण्** (७९०) इत्यण्प्रत्यये, **णेरनिटि** (५२९) इति णेर्लोपे, उपपदसमासे च कृते 'गोपालः' इति निष्पद्यते। ततः—गोपाल एव गोपालकः, स्वार्थे कः। गोपालकस्य स्त्रीति पुंयोगे ङीषि प्राप्ते प्रकृतवार्त्तिकेन तन्निषेधे, टापि, अनुबन्धलोपे, **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) इति लकारोत्तरस्य अकारस्य इत्वे, सवर्णदीर्घे, विभक्तिकार्ये च कृते 'गोपालिका' इति रूपं साधु।

१. हिन्दी में नगरपालिका (Municipality) शब्द आजकल प्रसिद्ध हो चला है। इस में पुंयोग जैसी कोई विवक्षा नहीं। केवल स्त्रीत्व के द्योतन में टाप् प्रत्यय करने से उसे भी संस्कृतशब्द बनाया जा सकता है।

।५।१। समासः—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थः, तस्मात्=प्रत्ययस्थात्, **सुँपि स्थः** (३.२.४) इति कप्रत्यये आतो लोपे (४८६) उपपदसमासः । न सुँप् असुँप्, तस्मात्= असुँपः, नञ्तत्पुरुषः । प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अर्थः—(प्रत्ययस्थात्) प्रत्यय में स्थित (कात्) क् से (पूर्वस्य) पूर्व (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (आपि) आप् प्रत्यय परे हो तो, परन्तु वह आप् प्रत्यय (असुँपः) सुँप् से परे नहीं होना चाहिये । उदाहरण यथा—

'गोपालक + आ' यहां 'गोपालक' में पूर्वोक्तप्रकारेण कन् प्रत्यय किया गया था अतः प्रत्यय के ककार से पूर्व लकारोत्तर अत् को प्रकृत **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से ह्रस्व इकार आदेश हो जायेगा, आप् परे है ही । पुनः सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'गोपालिका' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

सर्विका (अज्ञात सब स्त्रीसमूह) । 'सर्व' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् (आ) प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न हो जाता है । यहां सवर्णदीर्घ एकादेश को **अन्तादिवच्च** (४१) सूत्रद्वारा पूर्वान्तिवत् मान कर 'सर्वा' की **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) से सर्वनामसञ्ज्ञा बनी रहती है । अब अज्ञात आदि अर्थों में इस सर्वनाम की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्र से अकँच् प्रत्यय करने से— सर्व् अकँच् आ= सर्व् अक् आ='सर्वका' इस स्थिति में आप् (टाप्) के परे रहते प्रकृत **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्रद्वारा अकँच् प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'सर्विका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कारिका (करोति या स्त्री सा कारिका, करने वाली) । **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) धातु से कर्तृकारक में **ण्वुल्तृचौ** (७८४) सूत्र से ण्वुल् (वु) प्रत्यय, **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश एवम् **अचो ञ्णिति** (१८२) से ऋकार को वृद्धि (आर्) आदेश हो कर—'कारक' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त होने के कारण इस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् (आ) प्रत्यय हो जाता है । आप् के परे रहते प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को प्रकृत **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से इकार आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'कारिका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अध्यापिका, तारिका, हारिका, धारिका, परिव्राजिका, शायिका, नायिका, गायिका आदियों में इत्त्व की निष्पत्ति समझनी चाहिये ।[1]

---

१. प्रत्ययस्थ ककार यहां दो प्रकार का गृहीत होता है । एक—प्रत्यय के अन्त में स्थित, तथा दूसरा प्रत्यय के उपान्त (अन्त से पूर्व) में स्थित । अकँच् (अक्) में ककार प्रत्यय के अन्त में स्थित है । वु (अक), कन् (क) आदि में उपान्त में

अब ग्रन्थकार प्रत्युदाहरणों के द्वारा इस सूत्र के अर्थ को हृदयङ्गम कराते हैं—

अतः किम् ? नौका ।

प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अत् (ह्रस्व अकार) को ही इकारादेश होता है अन्य किसी वर्ण को नहीं । यथा—नौ (नाव) शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप् (आ) करने पर 'नौका' शब्द निष्पन्न होता है । इस में प्रत्यय के ककार से पूर्व अत् नहीं अपितु औकार है, इसलिये इसे इकार आदेश नहीं होता । इसीप्रकार—राका, कटुका, गोका आदि में समझना चाहिये ।

प्रत्ययस्थात् किम् ? शक्नोतीति शका ।

ककार भी यदि प्रत्यय में स्थित होगा तभी उस से पूर्व अत् को इकार होगा, अन्यथा नहीं । यथा—शक् [**शक्लृँ शक्तौ,** स्वा० परस्मै०] धातु से कर्तृ-कारक में **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (७८६) सूत्रद्वारा पचादित्वात् अच् (अ) प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने से 'शका' (शक्नोतीति शका, समर्थ स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां आप् के परे रहते भी ककार से पूर्व शकारोत्तर अत् को इकार आदेश नहीं होता । कारण कि ककार प्रत्यय में स्थित नहीं, वह तो शक् धातु का अवयव है ।

असुँपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ।

आप् प्रत्यय यदि सुँप् से परे होगा तो इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी । यथा—बहवः परिव्राजका यस्यां सा बहुपरिव्राजका नगरी (बहुत संन्यासियों वाली नगरी) । यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से 'बहु' और 'परिव्राजक'[1] पदों का बहुव्रीहिसमास हुआ है ।

विद्यमान है । इन दो प्रकारों को समझाने के लिये ही मूल में दो उदाहरण दिये गये हैं । पहला 'सर्विका' उदाहरण अन्त में ककार का तथा दूसरा 'कारिका' उदाहरण उपान्त्य ककार का है । इन के अतिरिक्त यदि प्रत्यय में कहीं अन्यत्र ककार मिलेगा तो उस का इस सूत्र में ग्रहण न होने से उस से पूर्व अत् को इत्त्व न होगा । यथा—पुत्रकाम्य + टाप् = पुत्रकाम्य + आ = पुत्रकाम्या । यहां काम्यच् प्रत्यय में स्थित ककार न तो प्रत्यय के अन्त में है और न ही उपान्त में, अतः प्रकृतसूत्र-द्वारा इत्त्व नहीं होता । इसीप्रकार—रथानां समूहः—रथकट्या । यहां **तस्य समूहः** (४.२.३६) के अर्थ में रथशब्द से **इनि-त्र-कट्यचश्च** (४.२.५०) सूत्रद्वारा कट्यच् (कट्य) प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् लाने पर 'रथकट्य + आ' इस स्थिति में कट्यप्रत्यय में ककार न तो अन्त में स्थित है और न ही उपान्त में, अतः यहां प्रकृतसूत्र से इत्त्व नहीं होता । केवल सवर्णदीर्घ हो कर विभक्ति लाने से 'रथकट्या' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस सब की उपपत्ति के लिये आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।

१. परिपूर्वाद् व्रजेर्वुल्, वोरकादेशः । **अत उपधायाः** (४५५) इत्युपधावृद्धिः ।

'बहु जस्+परिव्राजक जस्' इस अलौकिकविग्रह में बहुव्रीहिसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव दोनों सुँपों (जस् प्रत्ययों) का लुक्, स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त-लक्षण (१२४६) टाप्' सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'बहुपरिव्राजका, प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां आप् (टाप्) प्रत्यय परे तो है पर वह समास के अन्तावयव लुप्त हुए जस्-सुँप् से परे है क्योंकि प्रत्ययलक्षणद्वारा लुप्त हुए जस् को माना जा सकता है । [**न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से यहां प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उस की प्रवृत्ति तो तब होती है जब लुवाले शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय को मान कर अङ्ग के स्थान पर कोई कार्य करना हो, यहां तो सुँप् से परे जो टाप् उस को मान कर अङ्ग को इत्त्व का निषेध करना है ।][1]

इस इत्त्वविधायकसूत्र के कुछ अपवादस्थल भी हैं । उन में कुछ यथा—

(वा०) **क्षिपकादीनां च** । अर्थः—क्षिपका आदि शब्दों में **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—क्षिपतीति क्षिपः, **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (७८७) इति कप्रत्ययः । कित्त्वाद् लघूपधगुणो न । ततः स्वार्थे कन्— क्षिपकः । स्त्रियाम् टापि क्षिपका । इसीप्रकार—चटका । कन्यका । तारका (नक्षत्र) । ध्रुवका । आदि ।

(वा०) **त्यकनश्च प्रतिषेधः** । अर्थः—त्यकन्प्रत्ययान्तों में **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—उपत्यका (पर्वत के समीपवर्ती भूमि) । अधित्यका (पर्वत के उपर वाली भूमि) । **उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः** (५.२.३४) इति त्यकन्प्रत्ययः ।

(वा०) **मामकनरकयोरुपसङ्ख्यानम्** । अर्थः—मामक और नरक शब्दों से स्त्रीत्व में आप् के परे रहते ककार से पूर्व अत् को ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है ।

---

१. प्रौढमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी आदि में 'असुँपः' का 'सुँबन्तात् परो यः टाप्प्रत्ययः तस्मिन् इत्त्वं न' ऐसा व्याख्यान किया गया है । अतः उन के अनुसार समास में परले जस् का लुक् हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षणद्वारा उसे पुनः मान कर समास का उत्तरपद सुँबन्त हो जाता है तब इस सुँबन्त से परे टाप् के स्थित होने से इत्त्व की प्रवृत्ति नहीं होती । ध्यान रहे कि 'असुँपः' में प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है पर्युदास नहीं । यदि पर्युदास-प्रतिषेध मानेंगे तो पर्युदास के सदृग्ग्राही होने के कारण 'सुँबन्त से जो भिन्न; उस से परे टाप् हो तो इत्त्व हो जाता है' ऐसा अभिप्राय निकलेगा । तब 'बहुपरिव्राजका' में भी इत्त्व होने लगेगा, क्योंकि यहां समुदाय से तो सुँप् किया नहीं गया इसलिये समुदाय सुँबन्त से भिन्न है और इस से परे टाप् है ही, अतः यहां पर भी प्रकृतसूत्र से इत्त्व प्राप्त होने लगेगा जो अनिष्ट है । इसलिये यहां प्रसज्यप्रतिषेध माना गया है—सुँप् अर्थात् सुँबन्त से परे टाप् नहीं होना चाहिये । यहां सुँबन्त 'परिव्राजक जस्' से परे टाप् है अतः इत्त्व नहीं होता ।

मामिका सम्पत्[1]। नरिका[2]। दोनों स्थानों पर ककार प्रत्ययस्थ न था अतः उस से पूर्व अकार को इत्त्व प्राप्त न था, अतः इस वार्त्तिक से विधान किया गया है।

प्रासङ्गिक इत्त्वविधायकसूत्र की व्याख्या कर पुनः पुंयोग में स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०३) सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः ॥

सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या। देवतायां किम्?

अर्थः—'सूर्य' प्रातिपदिक से पुंयोग में देवता स्त्री (पत्नी) वाच्य होने पर 'चाप्' प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—सूर्यात् ।५।१। देवतायाम् ।७।१। चाप् ।१।१। वाच्यः ।१।१। यह वार्त्तिक महाभाष्य में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र पर पढ़ा गया है, अतः इसे तद्विषयक ही समझना चाहिये। पुंयोग में ङीष् के प्राप्त होने पर उस का अपवाद यह 'चाप्' प्रत्यय विधान किया जा रहा है। 'चाप्' में **चुटू** (१२९) से चकार तथा **हलन्त्यम्** (१) से पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'आ' मात्र शेष रहता है। टाप् और चाप् प्रत्ययों के करने में स्वर में अन्तर पड़ता है। टाप् प्रत्यय करने पर **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) से टाप् का आकार अनुदात्त रहता है परन्तु चाप् प्रत्यय करने से **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर होता है, यही दोनों का अन्तर है। चाप् में पकार **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) सूत्र में सामान्यग्रहण के लिये जोड़ा गया है।

पौराणिक आख्यानों में सूर्यदेव की दो पत्नियां मानी जाती हैं एक देवता पत्नी और दूसरी मानुषी अर्थात् मनुष्यजातीया। इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति सूर्य की देवता पत्नी के वाच्य होने पर ही होती है अत एव इस में 'देवतायाम्' कहा गया है। उदाहरण यथा—

सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या। यहां 'सूर्य' प्रातिपदिक से पुंयोग में देवता-पत्नी की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र से ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता था, परन्तु प्रकृतवार्त्तिक **सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) से उस का बाध हो

---

१. ममेयम् इति विग्रहे **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) इत्यणि **तवकममकावेकवचने** (१०८१) इति ममकादेशे आदिवृद्धौ, टापि, प्रकृतवार्त्तिकेन इत्त्वे 'मामिका' इति सिध्यति। [अत्र **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् तु न, **केवलमामकभागधेय०** (४.१.३०) इत्यादिना संज्ञाछन्दसोरेव ङीब्नियमात्]।

२. नरान् कायति इति नरिका। **कै शब्दे** (भ्वा० परस्मै०), **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्त्वे, **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) इति कप्रत्यये, **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्याकारलोपे, उपपदसमासे, सुंपो लुकि टापि इत्त्वे विभक्तिकार्ये च कृते रूपसिद्धिः।

चाप् प्रत्यय हो जाता है। चाप् के चकार और पकार अनुबन्धों का लोप हो कर सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'सूर्या' (सूर्य की देवता पत्नी) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूर्यस्य स्त्री मानुषी—सूरी (सूर्य की मनुष्य स्त्री)। यहां मनुष्य स्त्री के वाच्य होने पर 'सूर्य' प्रातिपदिक से प्रकृतवार्त्तिक **सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) से चाप् नहीं होता। **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—सूर्य् + ई। अब अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१०४) सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च ॥

यलोपः। सूरी (कुन्ती)। मानुषीयम् ॥

अर्थः—छ या ङी प्रत्यय परे होने पर जो अङ्ग, उस के उपधा के यकार का लोप हो जाता है यदि वह यकार 'सूर्य' या 'अगस्त्य' शब्दों का अवयव हो तो।[1]

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४९) सूत्र पर पढ़ा गया है। उक्त सूत्र का सरलार्थ यह है—ईकार वा तद्धित

---

१. सूर्य और अगस्त्य शब्दों की उपधा के यकार का लोप हो जाता है छ या ङी प्रत्ययों के परे होने पर—ऐसा सरल अर्थ न कर उपर्युक्त व्यायामपूर्ण **अर्थ** इस लिये किया गया है ताकि 'सौरी प्रभा' आदि में यकार का लोप हो सके अन्यथा सरलार्थ से यह सिद्ध न होता। तथाहि—

सूर्यशब्द से **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'सौर्य' प्रातिपदिक बनता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'सौर्य + ई' इस स्थिति में सरलार्थ से काम नहीं चल सकता, क्योंकि ङी (ई) के परे रहते 'सूर्य' शब्द तो रहा ही नहीं वहां तो अण्प्रत्ययान्त 'सौर्य' यह नया शब्द आ गया है अतः उपधा के यकार का लोप नहीं हो सकता। परन्तु उपर्युक्त व्यायामपूर्ण अर्थ करने से कोई बाधा नहीं आती, आसानी से यकार का लोप सिद्ध हो जाता है। क्योंकि 'ङी' के परे रहते अङ्ग है—सौर्य, इस अङ्ग की उपधा के यकार का लोप हो सकता है, कारण कि वह यकार सूर्यशब्द का मौलिक अवयव है कोई भिन्न वर्ण नहीं। अतः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो प्रकृतवार्त्तिक के उपर्युक्त अर्थ से यकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'सौरी प्रभा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। [न च 'सौर्य + ई' इत्यत्र **यस्येति च** (२३६) इत्यनेन अणोऽकारलोपे **एकदेशविकृतमनन्यवद्** इतिन्यायेन स एव सूर्य-शब्द इति वाच्यम्, अल्लोपयलोपयोरुभयोरप्याभीयत्वेन यलोपे कर्तव्ये पूर्वप्रवृत्त-स्याल्लोपस्यासिद्धत्वेन सूर्यशब्दकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति]।

परे हो तो अङ्ग की उपधा यकार का लोप हो जाता है यदि यह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य या मत्स्य शब्दों का अवयव हो तो । इस सूत्रद्वारा तद्धितमात्र में प्राप्त उपधा के यकार का लोप प्रकृतवार्त्तिक तथा कुछ अन्य वार्त्तिकों के द्वारा नियमित किया जाता है । प्रकृतवार्त्तिक में सूर्य और अगस्त्य शब्दों के उपधा यकार का लोप ङी (ई) में तथा तद्धितप्रत्ययों में केवल छप्रत्यय के परे रहते ही नियमित किया गया है । अतः 'छ' से भिन्न अन्य तद्धितों में इस का लोप न होगा । उदाहरण यथा (ङी में)—

'सूर्य्+ई' यहां ङी परे है अतः **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च** (वा० १०३) इस प्रकृतवार्त्तिक से अङ्ग की उपधा यकार का लोप हो जाता है क्योंकि यह यकार सूर्य-शब्द का अवयव है—सूर्+ई=सूरी । अब ङ्यन्त से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ विभक्ति ला कर उस का हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने से 'सूरी' (सूर्य की मनुष्य स्त्री अर्थात् कुन्ती[1]) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—**तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में सूर्यशब्द से अण् हो कर आदिवृद्धि एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'सौर्य' शब्द निष्पन्न होता है । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से इस से परे ङीप् (ई) प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं प्रकृतवार्त्तिकद्वारा उपधा के यकार का भी लोप करने पर विभक्ति लाने से 'सौरी प्रभा' (सूर्य की चमक) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'छ' प्रत्यय में उदाहरण यथा—

सौरीयः (सूर्यसम्बन्धी प्रकाश आदि में होने वाला) । सूर्यशब्द से पूर्ववत् **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'सौर्य' शब्द निष्पन्न होता है । अब इस से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, प्रत्यय के आदि छकार को **आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्रद्वारा ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर 'सौर्य्+ईय' हुआ । अब प्रकृत **सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्याञ्च** (वा० १०३) वार्त्तिक से अङ्ग की उपधा यकार (जो सूर्यशब्द से सम्बन्ध रखती है) का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौरीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार अगस्त्यशब्द में प्रक्रिया समझनी चाहिये । अगस्त्यस्य पत्नी—अगस्ती [पुंयोग में ङीष्, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा प्रकृत-वार्त्तिक से उपधा के यकार का लोप] । 'छ' में पूर्ववत् 'आगस्तीयः' ।

प्रकृतवार्त्तिकद्वारा नियमित किये जाने से अन्य तद्धित प्रत्ययों में इन के यकार का लोप नहीं होता । यथा—सूर्यो देवताऽस्येति सौर्यो मन्त्रः [**साऽस्य देवता** (१०४१) से अण्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप] । अगस्त्यस्या-

---

१. सूर्य की मानुषी पत्नी कुन्ती का आख्यान **महाभारत** आदि-पर्व अध्याय ११० में देखना चाहिये ।

पत्यम्— आगस्त्यः [**ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) से अण्, आदिवृद्धि, **यस्येति च** (२३६)]।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ङीष् का पुनः विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६३) **इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणाम् आनुँक्** ।४।१।४९॥

एषाम् आनुँगागमः स्यान्ङीष् च । इन्द्रस्य स्त्री—इन्द्राणी । वरुणानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी ॥

अर्थः—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय तथा इन प्रातिपदिकों को आनुँक् का आगम भी हो जाता है।

व्याख्या—इन्द्र-वरुण—मातुलाचार्याणाम् ।६।३। आनुँक् ।१।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से ।)। **प्रत्ययः, परश्च, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्**—ये सब अधिकृत हैं। इन्द्रश्च वरुणश्च भवश्च शर्वश्च रुद्रश्च मृडश्च हिमं च अरण्यं च यवश्च यवनश्च मातुलश्च आचार्यश्च — इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुला-ऽऽचार्याः, तेषाम् = इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणाम्, इतरेतरद्वन्द्वसमासः । **प्रत्ययः, परश्च**—इन अधिकारों के अनुरोध से इस पद की आवृत्ति कर इसे पञ्चमीबहुवचनान्त में परिणत कर लिया जाता है। एवं 'प्रातिपदिकात्' को बहुवचनान्त में परिणत कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बना लिया जाता है। अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (इन्द्र—आचार्येभ्यः) इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से परे (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है तथा इन प्रातिपदिकों का अवयव (आनुँक्) आनुँक् आगम भी हो जाता है।

यह सूत्र अष्टाध्यायी में पुंयोग के प्रकरण में पढ़ा गया है। परन्तु इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, मातुल और आचार्य— इन आठ शब्दों से ही पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अन्यों (हिम, अरण्य, यव) से असम्भव होने के कारण एवं यवनशब्द से अप्रसिद्ध होने के कारण पुंयोग में प्रवृत्ति नहीं होती। उन से वक्ष्यमाण वार्त्तिकोक्त अर्थों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

आनुँक् के अन्त में उँकार और ककार इत् हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'आन्' मात्र ही शेष रहता है। कित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषा के अनुसार इन्द्र आदि प्रातिपदिकों का अन्तावयव बनता है। उदाहरण यथा—

इन्द्रस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—इन्द्राणी (इन्द्र की पत्नी)। यहां 'इन्द्र' प्रातिपदिक से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) इस प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक के अन्त में आनुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से 'इन्द्र आन्+ई' हुआ। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (१३८) से नकार को णकार कर अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'इन्द्राणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

इसीप्रकार— वरुणस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—वरुणानी (वरुण की पत्नी) । भवस्य स्त्री—भवानी । शर्वस्य स्त्री—शर्वाणी । रुद्रस्य स्त्री—रुद्राणी । मृडस्य स्त्री—मृडानी । भव, शर्व, रुद्र और मृड—ये सब शिव के नाम हैं, शिव की पत्नी पार्वती को भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी और मृडानी कहते हैं ।

इन्द्र आदि शब्दों से ङीष् तो पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र से ही सिद्ध था, केवल आनुंक् आगम के लिये ही सूत्र में इन का ग्रहण किया गया है ।[2]

अब अग्रिम वार्त्तिकों के द्वारा अन्य शब्दों के अर्थों तथा विशिष्ट कार्यों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०५) हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे ॥

महद् हिमं हिमानी । महद् अरण्यम् अरण्यानी ॥

अर्थः—हिम और अरण्य इन दो प्रातिपदिकों से महत्त्व (बड़ा होना) अर्थ में ही ङीष् और आनुंक् का विधान समझना चाहिये ।

व्याख्या—वार्त्तिकार्थ सरल है । उदाहरण यथा—

महद् हिमम्—हिमानी (बड़ी बरफ)[3] । महद् अरण्यम्—अरण्यानी (बड़ा जङ्गल)[4] । इन अर्थों में इन का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होता है । इन की सिद्धि 'इन्द्राणी' की तरह समझनी चाहिये ।

[लघु०] वा०—(१०६) यवाद् दोषे ॥

दुष्टो यवो यवानी ॥

अर्थः—दोष द्योत्य होने पर 'यव' प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय और प्रकृति को आनुंक् का आगम हो जाता है ।

---

१. **पुलोमजा शचीन्द्राणी**—इत्यमरः ।

२. आनुंक् आगम की बजाय यदि अनुंक् आगम कर देते तो **अतो गुणे** (२७४) सूत्र-द्वारा सवर्णदीर्घ का बाध कर पररूप हो जाता । इस प्रकार 'इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी' आदि के स्थान पर 'इन्द्रणी, वरुणनी, भवनी' आदि अनिष्ट रूप बन जाते । अतः आगम को दीर्घघटित किया गया है । विशेषजिज्ञासु इस विषय पर विस्तृत विचार लेखक के शोधप्रबन्ध **न्यास-पर्यालोचन** में पृष्ठ (१५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६) पर देखें । यह ग्रन्थ **भैमीप्रकाशन** से प्रकाशित हो चुका है ।

३. आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि महत्त्व से हिम का घनत्व अपेक्षित है (देखें ट्रस्टद्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायीभाष्य पर ४.१.४९ सूत्र पर उन की टिप्पण) ।

४. निरुक्त (९.२९) में 'अरण्यस्य पत्नी अरण्यानी' ऐसा भी उपलब्ध होता है ।

व्याख्या—वार्त्तिकार्थ सरल है। दुष्टो यवः—यवानी (दुष्ट यव अर्थात् अजवायन)। 'यवानी' वह द्रव्य है जो जात्या तो यव नहीं पर आकृत्या यव के सदृश है। दोष से यहां वैयाकरणों को यही अभिप्रेत है। जैसाकि कैय्यटकृतप्रदीप में लिखा है—**जात्यन्तरमेवाभिधीयते। दोषस्तु यवत्वजातेरभावे तदाकारानुकृतिमात्रम् इत्याहुः** [प्रदीप ४.१.४६]। हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदियों ने भी कैय्यट का अनुसरण किया है।

[लघु०] वा०—(१०७) यवनाल्लिप्याम् ॥

यवनानां लिपिर्यवनानी ॥

अर्थः—'यवन' प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय तथा प्रकृति को आनुँक् का आगम लिपिविशेष के वाच्य होने पर ही होता है।

व्याख्या—यवनात् ।५।१। लिप्याम् ।७।१। वार्तिकार्थ सरल है। अक्षरों के विन्यास की विशिष्ट शैली को लिपि कहा जाता है। ब्राह्मी, शारदा, नागरी आदि लिपिविशेषों की संज्ञाएं हैं। यवनों (यूनानियों) की भाषा जिस लिपि में लिखी जाती थी उसे प्राचीन काल में 'यवनानी' कहा जाता था। ब्राह्मी आदि भारतीय लिपियां जहां बाईं ओर से दाईं ओर को चला करतीं थीं वहां यवनानी लिपि इस के विपरीत दाईं ओर से बाईं ओर को अग्रसर होती थी। आजकल उर्दू, फ़ारसी, अरबी आदियों की लिपियां यवनानीशैली पर अग्रसर होती हैं।

इस वार्त्तिकद्वारा लिपि के विषय में विधीयमान इस ङीष् और आनुँक् को **तस्येदम्** (११०६) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद समझना चाहिये। अत एव 'यवनानामियम्—यावनी लिपिः' ऐसा प्रयोग नहीं होता। हां! भाषा आदि के वाच्य होने पर अण् का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
गजैरापीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥ (भविष्यपुराणे)

नोट—यवन प्रातिपदिक से पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा केवल ङीष् प्रत्यय ही होगा आनुँक् नहीं। अतः यवनस्य स्त्री 'यवनी' ही बनेगा 'यवनानी' नहीं।

[लघु०] वा०—(१०८) मातुलोपाध्याययोरानुँग्वा ॥

मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी ॥

अर्थः—मातुल (मामा) और उपाध्याय—इन दो प्रातिपदिकों से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय तो नित्य होता है पर आनुँक् का आगम विकल्प से।

व्याख्या—मातुलोपाध्याययोः ।६।२। आनुँक् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। वार्त्तिक का अर्थ पूर्ववत् सरल है। मातुलस्य स्त्री (भार्या, पत्नी) मातुलानी (मामी)। जहां आनुँक् का आगम न होगा वहां केवल ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का

लोप कर विभक्ति लाने से 'मातुली' प्रयोग बनेगा । इसीप्रकार—उपाध्यायस्य[1] स्त्री—उपाध्यायानी, उपाध्यायी (उपाध्याय की पत्नी) वा ।

यदि 'उपाध्यायस्य स्त्री' इस प्रकार पुंयोग विवक्षित न होगा अर्थात् कोई स्त्री स्वयम् अध्यापिका होगी तो वहां ङीष् का विकल्प होगा आनुँक् की प्रवृत्ति न होगी—उपाध्यायी, उपाध्याया वा । यह बात महाभाष्य में **इङश्च** (२.४.४८) सूत्र पर कही गई है । अत एव सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—**या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः** (सि० कौ०) । इस से यह भी प्रमाणित होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियां भी वेद का अध्यापन करती थीं । बाद में पुरुषों ने उन से यह अधिकार छीन लिया प्रतीत होता है ।

[लघु०] वा०—(१०९) आचार्यादणत्वं च ॥

आचार्यस्य स्त्री—आचार्यानी ॥

अर्थः—आचार्यप्रातिपदिक से परे आनुँक् (आन्) के नकार को णकार नहीं होता ।

व्याख्या—'आचार्य'[2] प्रातिपदिक से पुंयोग में ङीष् और आनुँक् तो सूत्र से ही सिद्ध हैं परतु इस के साथ आनुँक् के नकार को णकार आदेश भी नहीं होता—इस के संग्रह के लिये वार्त्तिक में 'च' का ग्रहण किया गया है । उदाहरण यथा—

आचार्यस्य स्त्री (पत्नी) आचार्यानी [आचार्य की पत्नी] । यहां आचार्यशब्द से पुंयोग में **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर प्रकृति को आनुँक् का आगम हो जाता है—आचार्य आन् + ई=आचार्यानी । अब **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से नकार को णकार प्राप्त होता है, इस पर प्रकृतवार्त्तिक **आचार्यादणत्वं च** (वा० १०९) से उस का निषेध हो जाता है । पुनः विभक्तिकार्य करने से 'आचार्यानी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि यदि कोई स्त्री स्वयं व्याख्यात्री पण्डिता होगी तो पुंयोग के अभाव में प्रकृतसूत्र से ङीष् और आनुँक् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय ही होगा—आचार्या ।

[लघु०] वा०—(११०) अर्यक्षत्त्रियाभ्यां वा स्वार्थे ॥

अर्याणी, अर्या । क्षत्त्रियाणी, क्षत्त्रिया ॥

---

१. उपाध्याय का लक्षण यथा—

> **एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।**
> **योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥** (मनु० २.१४१)

२. आचार्य का लक्षण यथा—

> **उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।**
> **सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥** (मनु० २.१४०)

अर्थः—'अर्य' (स्वामी या वैश्य)[1] एवं 'क्षत्रिय' प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (पुंयोग में नहीं बल्कि जाति आदि वाच्य होने पर) स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष्-प्रत्यय+आनुँक्-आगम विकल्प से होते हैं।

व्याख्या—पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् (१२४६) हो जायेगा[2]। उदाहरण यथा—अर्याणी, अर्या (स्वामिनी या वैश्य जाति की स्त्री)। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया (क्षत्रिय-जाति की स्त्री)। पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से निर्बाध ङीष् हो जायेगा। यथा—अर्यस्य भार्या—अर्यी (स्वामी की पत्नी अथवा वैश्य की पत्नी)। क्षत्रियस्य भार्या—क्षत्रियी (क्षत्रिय की पत्नी)[3]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६४) क्रीतात् करणपूर्वात् ।४।१।५०।।

क्रीतान्ताद् अदन्तात् करणादेः[4] स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न—धनक्रीता ॥

अर्थः—'क्रीत' शब्द जिस के अन्त में तथा करणवाचक जिस का पूर्वावयव हो उस अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

---

१. अर्यः **स्वामि-वैश्ययोः** (३.१.१०३)।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि पक्ष में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता, क्योंकि उक्तसूत्र में 'अयोपधात्' कहा गया है। अर्य और क्षत्रिय दोनों की उपधा में यकार है।

३. अमरकोष में इन का संग्रह सुन्दररीति से किया गया है—

अर्याणी स्वयमर्या स्यात् क्षत्रिया क्षत्रियाण्यपि।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः ॥
आचार्यानी तु पुंयोगे स्यादर्यी क्षत्रियी तथा।
उपाध्यायान्युपाध्यायी ॥

अर्थः—पुंयोग के विना स्वार्थ में 'अर्याणी-अर्या; क्षत्रियाणी-क्षत्रिया' रूप बनते हैं। इसीप्रकार पुंयोग के बिना स्वतः अध्यापन कार्य करने पर 'उपाध्यायी-उपाध्याया' तथा 'आचार्या' रूप बनते हैं। पुंयोग में—अर्यी, क्षत्रियी, उपाध्यायानी-उपाध्याया तथा आचार्यानी रूप बनते हैं।

४. क्रीतान्ताद् अदन्तात् करणादेः—इन तीनों के पुंलिङ्ग विशेष्य 'प्रातिपदिकशब्दात्' का यहां अध्याहार करना चाहिये। केवल 'प्रातिपदिकात्' इस नपुंसक विशेष्य का अध्यहार स्वीकार करेंगे तो 'करणादेः' यह पुंलिङ्ग प्रयोग अनुपपन्न होगा—ऐसा बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित का कथन है। परन्तु हमारे विचार में 'करणादि' शब्द भाषितपुंस्क है अतः नपुंसक के पञ्चम्येकवचन में इस के 'करणादेः और करणादिनः' दोनों रूप बन सकते हैं। यहां 'प्रातिपदिकात्' इस नपुंसक विशेष्य के साथ किसी भी रूप का प्रयोग हो सकता है—कोई दोष नहीं आता।

व्याख्या—क्रीतात् ।५।१। करणपूर्वात् ।५।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । करणं (करणवाचकम्) पूर्वम् (पूर्वपदम्) यस्य प्रातिपदिकस्य तत् करणपूर्वम्, तस्मात्=करणपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । 'अतः' और 'क्रीतात्' ये दोनों 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'क्रीतशब्दान्ताद् अदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(क्रीतात्=क्रीतशब्दान्तात्) क्रीतशब्द जिसके अन्त में हो तथा (करणपूर्वात्) करणवाचक जिस के पूर्व में हो ऐसे (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

वस्त्रैः क्रीता वस्त्रक्रीती (वस्त्रोंद्वारा खरीदी गई स्त्री, भूमि आदि कोई स्त्रीलिङ्ग वस्तु) । 'वस्त्र भिस्+क्रीत' इस अलौकिकविग्रह में 'क्रीत' शब्द से सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः**[1] इस परिभाषा के बल से **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक् करने पर 'वस्त्रक्रीत' बना । इस शब्द के अन्त में क्रीतशब्द तथा इस के आदि में करणवाचक वस्त्रशब्द मौजूद है किञ्च यह समस्त प्रातिपदिक अदन्त भी है, इसलिये स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४) सूत्रद्वारा ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वस्त्रक्रीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

क्वचिन्न—धनक्रीता ।

प्रकृतसूत्रद्वारा विधीयमान ङीष् क्वचित् नहीं भी होता । यथा—धनेन क्रीता धनक्रीता[3] (धन से खरीदी हुई स्त्री, भूमि आदि कोई स्त्रीलिङ्ग वस्तु) । कारण यह है कि **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** (प०) इस परिभाषा का क्वचित् आश्रयण नहीं भी किया जाता । तब **सह सुँपा** (९०६) अधिकार के कारण सुँबन्त का सुँबन्त के साथ ही समास होने के कारण 'क्रीत' को सुँबन्त बनाने से पूर्व ही स्त्रीप्रत्यय करना पड़ता है । ऐसी अवस्था में उस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) द्वारा टाप् ही हो सकता है, ङीष् नहीं, क्योंकि ङीष् की प्रवृत्ति तो तब होती है जब उस के पूर्व करणकारक

---

१. इस परिभाषा की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या इस भैमीव्याख्या के चतुर्थभाग समास प्रकरण में पृष्ठ १५०—१५३ तक देखें ।

२. 'वस्त्रक्रीती' की और अधिक विस्तृत सिद्धि को जानने के लिये समासप्रकरण में पृष्ठ (१५२) पर लिखी 'अश्वक्रीती' की सिद्धि को देखें ।

३. **सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी**—इत्युद्धृतं काशिकायाम् । मूलमस्य मृग्यम् ।

जुड़ा हो। इस प्रकार 'धन टा+क्रीता सुँ' इस अलौकिकविग्रह वाले समास में सुँपों (टा और सुँ) का लुक् कर 'धनक्रीता' यह आदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर भी प्रकृतसूत्र से ङीष् नहीं होता क्योंकि इस में अदन्त प्रातिपदिक से ही ङीष् का विधान किया गया है आदन्त से नहीं। इस तरह प्रथमा के एकवचन में सुँ का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्—हल्ङ्यादिलोप (१७९) हो कर 'धनक्रीता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में 'करणपूर्वात्' कहने के कारण 'सुक्रीता, दुष्क्रीता, विक्रीता' आदि में ङीष् न होगा। इसीप्रकार 'स्वक्रीता' में कर्तृकारक पूर्व में जुड़ा होने के कारण भी ङीष् की प्रवृत्ति नहीं होती।

'वस्त्रैः क्रीता' इत्यादि विग्रहवाक्यों में 'क्रीत' से ङीष् न हो कर टाप् ही होता है। कारण कि यह करणादि एवं क्रीतान्त प्रातिपदिक नहीं है।

——:०:——

अभ्यास [१]

(१) क्या स्त्रीप्रत्यय लगा कर ही स्त्रीत्व प्रकट किया जा सकता है या अन्यथा भी? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(२) संस्कृतभाषा में स्त्रीत्व का निर्णय किस आधार पर किया जाता है?

(३) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

[क] पाणिनीयव्याकरण के कुल स्त्रीप्रत्यय नामतः निर्दिष्ट करें।

[ख] 'श्वेता' में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्०** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

[ग] 'चटका' में ककार से पूर्व अत् को इत्त्व क्यों नहीं होता?

[घ] 'त्रिभुवनम्' में **द्विगोः** द्वारा ङीप् क्यों नहीं होता?

[ङ] **प्राचां ष्फ तद्धितः** में ष्फ को तद्धित क्यों कहा है?

[च] **यवाद् दोषे** में दोष से क्या अभिप्रेत है?

[छ] वत्स, बाल और शिशु में **वयसि प्रथमे** की प्रवृत्ति होगी या नहीं?

[ज] **वोतो गुणवचनात्** से 'आखु'शब्द में ङीष् होगा या नहीं?

[झ] युवावस्थावाची 'वधूटी' में **वयसि प्रथमे** द्वारा ङीष् कैसे हो जाता है?

[ञ] जाति के वाच्य होने पर 'क्षत्रिय' और 'अर्य' का क्या रूप बनेगा?

[ट] प्रथमवयोवाची कन्याशब्द में ङीप् न हो कर टाप् कैसे?

[ठ] 'आचार्यानी' में णत्व क्यों नहीं होता?

(४) अधोलिखित प्रातिपदिकों के स्त्रीलिङ्ग रूप सिद्ध करें—

१. राजन्। २. अनडुह्। ३. विद्वस्। ४. शिव। ५. सुन्दर। ६. दण्डिन्। ७. पञ्चन्। ८. कर्तृ। ९. गच्छत्। १०. जानत्। ११. नश्वर। १२. यतमान। १३. कुप्यत्। १४. कुर्वत्। १५. मातुल। १६. बहुकुरुचर। १७. देव।

(५) स्त्रीप्रत्ययविधायकसूत्रों का निर्देश करते हुए रूपों को सिद्ध करें—
१. वस्त्रक्रीती । २. मृदुः-मृद्वी । ३. कुमारी । ४. बहुः-बह्वी । ५. मूषिका । ६. पचन्ती । ७. त्रिलोकी । ८. नदी । ९. लावणिकी । १०. गार्गी-गार्ग्यायणी । ११. एनी-एता । १२. यावनी । १३. गौरी । १४. गोपालिका । १५. नर्तकी । १६. गोपी । १७. अजा । १८. इन्द्राणी । १९. तरुणी । २०. दीव्यन्ती । २१. नदी । २२. स्त्रैणी । २३. ऐन्द्री । २४. रात्रिः-रात्री । २५. सर्विका ।

(६) **इन्द्रवरुण०** सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करें ।

(७) **टिड्ढाणञ्०** सूत्रोक्त प्रत्येक प्रत्यय के उदाहरण की सिद्धि करें ।

(८) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. प्रत्ययस्थात्० । २. वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । ३. वोतो गुणवचनात् । ४. पुंयोगादाख्यायाम् । ५. यञश्च । ६. प्राचां ष्फ तद्धितः । ७. द्विगोः । ८. अजाद्यतष्टाप् । ९. उगितश्च । १०. षिद्गौरादिभ्यश्च । ११. क्रीतात्करणपूर्वात् । १२. वयसि प्रथमे । १३. बह्वादिभ्यश्च । १४. हलस्तद्धितस्य । १५. न षट्स्वस्रादिभ्यः । १६. ऋन्नेभ्यो ङीप् ।

(९) निम्नस्थ वार्त्तिकों एवं गणसूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. कृदिकारादक्तिनः । २. सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके । ३. नञ्स्नञीकक्० । ४. आमनडुहः स्त्रियां वा । ५. सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः । ६. सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च । ७. यवाद् दोषे । ८. यवनाल्लिप्याम् । ९. हिमारण्ययोर्महत्त्वे । १०. मातुलोपाध्याययोरानुँग्वा । ११. पालकान्तान्न । १२. वयस्यचरमे । १३. अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे ।

(१०) व्याख्या करें—
[क] देवतायां किम् ? सूरी कुन्ती । मानुषीयम् ।
[ख] अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना ।
[ग] प्रत्ययस्थात् किम् ? शका । अतः किम् ? नौका ।
[घ] असुँपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ।
[ङ] क्वचिन्न —धनक्रीता ।

(११) निम्नस्थ युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—
१. गोपी-गोपा । २. यवनानी-यवनी । ३. आचार्यानी-आचार्या । ४. सूर्या-सूरी । ५. भवती-भवन्ती । ६. क्षत्रियाणी-क्षत्रिया । ७. अर्याणी-अर्यी । ८. उपाध्यायानी-उपाध्याया । ९. हिमम्-हिमानी । १० अरण्यम्-अरण्यानी ।

(१२) **ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवति**—इस वचन को समझा कर इस की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति के कुछ स्थल दर्शाएं ।

(१३) **पुंयोगादाख्यायाम्** में पुंयोग पर वैयाकरणों के मतभेद का निरूपण करें ।

(१४) **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** यह गणसूत्र किन किन बातों में **कृदिकारादक्तिनः** सूत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक है ?

(१५) निम्नस्थ कारिका की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करें—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥

(१६) **न षट्स्वस्रादिभ्यः** द्वारा ङीप् और टाप् दोनों का निषेध किया जाता है । टाब्निषेध को उदाहरणों में घटा कर समझाएं ।

(१७) **अजाद्यतष्टाप्** में कौमुदीकार 'अजाद्यतः' को षष्ठ्यन्त क्यों मानते हैं ?

(१८) प्रत्यय में ककार किस स्थान पर हो तो इत्त्व की प्रवृत्ति होती है ?

(१९) आगम के टित्त्व के कारण कोई प्रातिपदिक टित् नहीं होता—इस कथन की सोदाहरण पुष्टि करें ।

(२०) लकाराश्रित अनुबन्धकार्य लादेशों में संक्रमित नहीं होते—इस कथन की सोदाहरण सप्रमाण व्याख्या करें ।

——:०:——

अब पुनः ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६५) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ।४।१।५४।।**

असंयोगोपधम् उपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्ताद् अदन्ताद् ङीष् वा स्यात् (स्त्रियाम्) । केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।।

अर्थः—जिस की उपधा में संयोग न हो ऐसा जो उपसर्जनसञ्ज्ञक स्वाङ्गवाची शब्द तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्वाङ्गात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । उपसर्जनात् ।५।१। असंयोगोपधात् ।५।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । वा इत्यव्ययपदम् । **प्रातिपदिकात्, अतः, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—संयोग उपधायां यस्य स संयोगोपधः, न संयोगोपधः—असंयोगोपधः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः । 'असंयोगोपधात्' और 'उपसर्जनात्' ये दोनों 'स्वाङ्गात्' में अन्वित होते हैं । 'स्वाङ्गात्' तथा 'अतः' ये दोनों 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं अतः इन से तदन्तविधि हो जाती है । **अर्थः**—(असंयोगोपधात्) जिस की उपधा में संयोग न हो ऐसा जो (उपसर्जनात्) उपसर्जनसञ्ज्ञक (स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची शब्द, तदन्त (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

केशान् अतिक्रान्ता—**अतिकेशी, अतिकेशा** वा (केशों को जो लाङ्घ चुकी है अर्थात् केशों से अधिक लम्बी माला आदि, अथवा लम्बे केशों वाली स्त्री आदि) । यहां 'केश शस्+अति' इस अलौकिकविग्रह में **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इस वार्त्तिक से प्रादिसमास, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से

सुँब्लुक् तथा प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा (६०६) एवम् **उपसर्जनम्पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात कर 'अतिकेश' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ। यहां प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची शब्द है—केश। इस की उपधा में कोई संयोग नहीं किञ्च विग्रह में नियतविभक्तिक होने से **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (६५१) सूत्रद्वारा यह उपसर्जनसंज्ञक भी है अतः तदन्त 'अतिकेश' शब्द से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा विकल्प से ङीष् (ई) प्रत्यय हो जाता है। ङीष्पक्ष में भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'अतिकेशी' तथा ङीष् के अभाव में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'अतिकेशा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इस तरह अतिकेशी, अतिकेशा—ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—चन्द्र इव मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा वा (चन्द्र के समान सुन्दर मुखवाली स्त्री)। यहां 'चन्द्र सुँ+मुख सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास में सुँपों का लुक् हो कर 'चन्द्रमुख' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ। इस प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द विद्यमान है। इस की उपधा में कोई संयोग नहीं। **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (अर्थात् बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन होते हैं)[2] इस वचन के अनुसार यह उपसर्जन भी है अतः तदन्त 'चन्द्रमुख' से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा पाक्षिक ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'चन्द्रमुखी' तथा पक्षान्तर में अदन्तलक्षण टाप् (१२४६), सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति लाने से 'चन्द्रमुखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

असंयोगोपधात् किम्? सुगुल्फा।

यदि स्वाङ्गवाची उपसर्जनसञ्ज्ञक शब्द की उपधा में संयोग होगा तो तदन्त प्रातिपदिक से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा बल्कि **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से केवल अदन्तलक्षण टाप् ही होगा, कारण कि सूत्र में 'असंयोगोपधात्' कहा गया है। यथा—शोभनौ गुल्फौ यस्याः सा सुगुल्फा (सुन्दर गुल्फों=गिट्टों वाली)। यहां 'सु+गुल्फ औ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से बहुव्रीहिसमास हुआ है।

---

१. 'अतिकेश' में यद्यपि तत्पुरुषसमास है और तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता हुआ करती है तथापि यहां प्राप्त परवल्लिङ्गता का **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) इस वार्त्तिक से निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है। विशेष्य यहां स्त्रीलिङ्ग विवक्षित है अतः स्त्रीत्व में वैकल्पिक ङीष् किया गया है।

२. **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः**—इस वचन की व्याख्या समासप्रकरण में (६६६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

समास में सुँब्लुक् हो स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति-कार्य करने पर 'सुगुल्फा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां 'गुल्फ' इस स्वाङ्गवाची शब्द की उपधा में 'ल्फ्' यह संयोग वर्त्तमान है अतः 'सुगुल्फ' प्रातिपदिक से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं हुआ। इसीतरह—सुपार्श्वा, सुवक्त्रा, सुहस्ता आदियों में ङीष् का अभाव समझना चाहिये।[1]

उपसर्जनात् किम् ? शिखा[2]।

स्वाङ्गवाची शब्द यदि उपसर्जन न होगा तो भी तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा पाक्षिक ङीष् न होगा। यथा—शिखा (चोटी)। यहां **शीङ् स्वप्ने** (अदा० आत्मने०) धातु से **शीङो ह्रस्वश्च** (उणा० ५.२४) इस उणादिसूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व हो कर 'शिख' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस की उपसर्जनसंज्ञा नहीं है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से पाक्षिक ङीष् न हो कर अदन्तलक्षण टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने पर 'शिखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'स्वाङ्ग' से 'अपना अङ्ग' नहीं समझना चाहिये। व्याकरण में यह पारिभाषिक शब्द माना गया है। इस की त्रिविध परिभाषा वैयाकरणों के अनुसार इस प्रकार कही जाती है—

(१) **अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।**
(२) **अतत्स्थं तत्र दृष्टं च** (३) **तेन चेत्तत्तथायुतम्॥**

स्वाङ्ग का प्रथम लक्षण यथा—

---

१. ध्यान रहे कि **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) इस सूत्र के अनुसार ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग इन पाञ्च संयोगोपधों के अन्त में आने पर निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती, वैकल्पिक ङीष् हो जाता है। यथा—बिम्बौष्ठी-बिम्बौष्ठा, दीर्घजङ्घी-दीर्घजङ्घा, समदन्ती-समदन्ता, चारुकर्णी-चारुकर्णा, तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा। उपर्युक्तसूत्र में 'च' ग्रहण के कारण अङ्ग, गात्र, कण्ठ और पुच्छ इन चार संयोगोपधों का भी ग्रहण किया जाता है—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा, तनुगात्री-तनुगात्रा, स्निग्धकण्ठी-स्निग्धकण्ठा, कल्याणपुच्छी-कल्याणपुच्छा।

२. कुछ लोग यहां 'सुशिखा' प्रत्युदाहरण पढ़ते हैं। उन का कथन है कि—शोभना शिखा सुशिखा। यहां **कु-गति-प्रादयः** (९४९) द्वारा प्रादितत्पुरुषसमास में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'सु' तो उपसर्जन है पर 'शिखा' नहीं, अतः इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय न होगा। परन्तु उन का यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि तब 'शिखा' शब्द के अदन्त न होने से स्वतः ही ङीष् प्राप्त न होगा।

अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थम् अविकारजम् ।[1] अर्थात् जो पदार्थ द्रव (तरल) न हो, मूर्त्तिमान् (दृश्य) हो, विकार से उत्पन्न न हुआ हो एवं प्राणियों में स्थित रहता हो—वह 'स्वाङ्ग' कहाता है। जैसे प्राणिस्थ केश, मुख, स्तन आदि 'स्वाङ्ग' हैं। अतः तदन्तों से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् तथा पक्ष में टाप् हो जाता है—सुकेशी-सुकेशा, चन्द्रमुखी-चन्द्रमुखा, पीनस्तनी-पीनस्तना आदि।

'कफ' और 'स्वेद' (पसीना) में उपर्युक्त अन्य सब लक्षण घटित होते हैं परन्तु वे द्रव (तरल) हैं अतः वे स्वाङ्ग नहीं, इसलिये तदन्तों से प्रकृत-सूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। यथा—सुकफा (बहुत कफ वाली), सुस्वेदा (बहुत पसीने वाली)। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) द्वारा अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

'ज्ञान' मूर्तिमत् (दृश्य, आकार वाला) नहीं होता अतः शेष सब लक्षणों के घटित होने पर भी वह 'स्वाङ्ग' नहीं होता। अतः तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। यथा—सुज्ञाना (शोभनं ज्ञानं यस्याः सा सुज्ञाना, श्रेष्ठ ज्ञान वाली)। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

सुमुखा शाला (सुन्दरं मुखं यस्याः सा सुमुखा। सुन्दर द्वार वाला घर)। यहां का 'मुख' शब्द प्राणिस्थ नहीं अतः स्वाङ्ग नहीं। इसलिये तदन्त से यहां प्रकृत-सूत्रद्वारा ङीष् नहीं हुआ। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्त-लक्षण टाप् हो हुआ है।

सुशोफा (बहुत सूजन वाली स्त्री)। यहां 'शोफ' (शोथ, सूजन) में अन्य तो सब लक्षण पाये जाते हैं पर वह अविकारज नहीं, शारीरिक विकाररूप रोग से उत्पन्न होता है। अतः वह स्वाङ्ग नहीं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

स्वाङ्ग का दूसरा लक्षण यथा—

अतत्स्थं तत्र दृष्टं च (स्वाङ्गम्)।[2]

चाहे अब प्राणियों में स्थित न हो परन्तु प्राणियों में देखा अवश्य गया हो वह भी स्वाङ्ग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों के अङ्ग यदि अब प्राणियों में विद्यमान न होकर कहीं अन्यत्र पड़े हुए हों तो भी वे स्वाङ्ग कहलाते हैं। यथा—सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (सुन्दर या बहुत केशों वाली गली)। यहां के 'केश' अब प्राणियों में स्थित नहीं (गली में विद्यमान हैं) परन्तु वे हैं ती प्राणियों के अङ्ग ही,

---

१. न विद्यते द्रवो द्रवत्वं (तरलता) यस्मिंस्तद् अद्रवम्। मूर्त्तिः=अवयवसंयोगोऽस्यास्तीति मूर्त्तिमत्। प्राणिषु=जन्तुषु विद्यमानं प्राणिस्थम्। अविकारजम्=रोगादि-विकाराऽजन्यं च यत् तत् प्रथमं स्वाङ्गमित्यर्थः।

२. तच्छब्देन प्राणी परामृश्यते। अतत्स्थम्=अप्राणिस्थम्, तत्र=प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः।

अतः इस द्वितीय लक्षण के अनुसार वे 'स्वाङ्ग' हैं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् की विकल्प से प्रवृत्ति हो जाती है।

स्वाङ्ग का तृतीय लक्षण यथा—

तेन चेत् तत् तथायुतम्।[1]

तात्पर्य यह है कि जैसे यह स्वाङ्ग प्राणियों में स्थित होता है यदि उसी प्रकार अन्यत्र मूर्त्ति आदि में स्थित हो तो भी उसे 'स्वाङ्ग' समझना चाहिये। यथा— सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा (सुन्दर स्तनों वाली मूर्ति)। यहां स्तन प्राणियों की तरह प्राणिसदृश प्रतिमा में स्थित हैं अतः ये भी स्वाङ्ग हैं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा विकल्प से ङीष् हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में इन तीनों लक्षणों को सुन्दर सरल शब्दों में इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

अविकारोऽद्रवं मूर्त्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तद् निभं च प्रतिमादिषु॥

(बृहद्-हैमवृत्ति २.४.३८)

अब कुछ स्वाङ्गवाची शब्दों से ङीष् का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(१२६६) न क्रोडादि-बह्वचः ।४।१।५६॥**

क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्॥

अर्थः— क्रोडादिगणपठित स्वाङ्गवाचकों से तथा बह्वच् (दो से अधिक अचों वाले) स्वाङ्गवाचक शब्दों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय नहीं होता। क्रोडादि आकृतिगण है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। क्रोडादि-बह्वचः ।५।३। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। स्वाङ्गात् ।५।१। उपसर्जनात् ।५।१। (**स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** सूत्र से)। **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। समासः— क्रोडा (क्रोडाशब्दः) आदिर्येषां ते क्रोडादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। बहवोऽचो यस्य स बह्वच्, बहुव्रीहिसमासः। क्रोडादयश्च बह्वच् च क्रोडादिबह्वच्, तस्मात्= क्रोडादिबह्वचः। समाहारद्वन्द्वः। समासान्तविधेरनित्यत्वाद् **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) इति टच् न। 'स्वाङ्गात्' और 'उपसर्जनात्' ये दोनों 'क्रोडादिबह्वचः' के साथ अन्वित होते हैं। 'क्रोडादिबह्वचः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः

---

१. तेन चेत्तत्तथायुतमिति तृतीयं स्वाङ्गलक्षणमिति बोध्यम्। अत्र भाष्ये 'स्वाङ्गम-प्राणिनोऽपि' इति शेषः पूरितः। तेन=प्राणिस्थेन स्तनाद्यङ्गाकृतिकावयवविशेषेण तत्=अप्राणिद्रव्यं प्रतिमादि तथा=प्राणिद्रव्यवद् युतम्=सम्बद्धं चेद् भवति तदा तत्=स्तनाद्यङ्गाकृतिकम् अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गमित्यर्थः। (बालमनोरमा)

विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(उपसर्जनात्) उपसर्जनसंज्ञक (स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची (क्रोडादिबह्वचः) जो क्रोडादिशब्द अथवा दो से अधिक अचों वाले शब्द, तदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष्) ङीष् प्रत्यय (न) नहीं होता। यह सूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का अपवाद है। इस से ङीष् का निषेध हो जाने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है। क्रोडादि स्वाङ्गों का उदाहरण यथा—

कल्याणी क्रोडा (वक्षःस्थलम्) यस्याः सा = कल्याणक्रोडा अश्वा (शुभ छाती वाली घोड़ी)। 'क्रोडा' शब्द घोड़े के वक्षःस्थल का वाचक है और नित्यस्त्रीलिङ्ग है। 'कल्याणी सुँ + क्रोडा सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, सुँपों का लुक् (७२१) तथा **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु** (९६९) से 'कल्याणी' को पुंवद्भाव के कारण 'कल्याण' कर देने पर 'कल्याणक्रोडा' इस स्थिति में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व हो जाता है—कल्याणक्रोड। अब सुँबुत्पत्ति से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में स्वाङ्गवाची 'क्रोडा' शब्द अन्त में होने के कारण **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से पाक्षिक ङीष् प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत **न क्रोडादि-बह्वचः** (१२६६) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। तब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्ति (सुँ) ला कर उस का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्... हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने पर 'कल्याण-क्रोडा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—कल्याणखुरा, कल्याणनखा, कल्याणगुदा, कल्याणघोणा, सुगला, सुभगा आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

क्रोडादि[1] आकृतिगण है। आकृत्या गण्यते = बुध्यते = परिचीयते इत्याकृति-

---

१. क्रोडादिगण का पहला शब्द 'क्रोड' है या 'क्रोडा' यह विवादग्रस्त है। महाभाष्य में यह सूत्र व्याख्यात नहीं। काशिकाकार ने इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि एवं पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र इसे 'क्रोडा' मानते हैं। हरदत्त ने लिखा है—"अश्वानामुरः क्रोडा, स्त्रीलिङ्गोऽयम्। तत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदस्य पुंवद्भावः, उत्तरपदस्योपसर्जनह्रस्वत्वम्।" माधवाचार्य धातुवृत्ति में तौदादिक **कुड निमज्जने** धातु पर स्पष्ट लिखते हैं—"क्रोडः, घञ्। क्रोडा अश्वानामुरः। टाबन्तोऽयं स्वभावतो विशेषविषयः। क्रोडादिषु टाबन्तमात्रस्य पाठाद् भुजान्तरवाचकस्य क्रोडशब्दस्य बहुव्रीहौ स्वाङ्गलक्षणो ङीब्विकल्प एव भवति। कल्याणक्रोडी कल्याणक्रोडा मयूरीति।" परन्तु गणरत्नमहोदधिकार आचार्य वर्धमान अपने ग्रन्थ में इसे 'क्रोड' पढ़ते हैं और स्वोपज्ञ-व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—"रत्नमतिस्तु कल्याणः क्रोडो यस्या इति विग्रहं दर्शयन् पुंलिङ्गतां ख्यापयति"। इन सब को देखते हुए तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा

गणः । आकृति (कार्यदर्शन) से ही इस गण की पहचान होती है । तात्पर्य यह है कि लोक में जहां स्वाङ्गवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् की अप्रवृत्ति दिखाई दे और उस अप्रवृत्ति का विधान किसी सूत्र या वार्त्तिक से न हुआ हो तो वहां स्वाङ्गवाची शब्द को क्रोडादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।

पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र ने क्रोडादिगण में ये शब्द गिनाये हैं—**क्रोडा बालखुरोखाः शफो गुदं भगगलौ चेति** । गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने इस गण का परिगणन इस प्रकार किया है—

क्रोड-बाल-गला भाल-भगोखाः खुरसंयुताः ।
शफो भुजो गुदं घोणाकरौ क्रोडादिनामनि ॥

अब बह्वच् स्वाङ्गवाची का उदाहरण यथा—

शोभने जघने यस्याः सा सुजघना (सुन्दर जघनों वाली स्त्री) । यहां 'सु+जघन औ' इस अलौकिकविग्रह वाले बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् होकर 'सुजघन' बना । 'जघन' शब्द स्वाङ्गवाची है अतः तदन्त 'सुजघन' से स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से वैकल्पिक ङीष् प्राप्त होता है । परन्तु 'जघन' शब्द दो से अधिक अचों वाला है अतः प्रकृत **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) सूत्र से ङीष् का निषेध हो जाता है । अब अदन्तलक्षण टाप् कर सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति-कार्य करने पर 'सुजघना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—पृथुजघना, सुवदना, पद्मवदना, चन्द्रवदना, स्वधरा, महाललाटा, सुनयना, वामलोचना, पादार्पितेक्षणा आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये । परन्तु नासिका और उदर इन दो स्वाङ्गवाचकों में बहु-अच्-निमित्तक यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता, वहां **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) सूत्रद्वारा वैकल्पिक ङीष् प्रवृत्त हो जाता है—तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका; कृशोदरी-कृशोदरा ।[1]

अब कुछ अन्य स्वाङ्गवाचकों से ङीष् के निषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(१२६७) नखमुखात् संज्ञायाम् ।४।१।५८॥**

न ङीष् ॥

अर्थः—स्वाङ्गवाची जो 'नख' अथवा 'मुख' शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से

बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित का कहना है कि यहां पर तीनों लिङ्गों में उदाहरण दिये जा सकते हैं । 'क्रोड' शब्द गोद और छाती का वाचक प्रसिद्ध है । **न ना क्रोडं भुजान्तरम्** इत्यमरः । अमरकोष में इसे पुंलिङ्ग नहीं माना गया परन्तु अन्य कोषकारों ने इसे पुंलिङ्ग भी माना है । अतः तीनों लिङ्गों में उदाहरण सम्भव हैं ।

१. इस विषय पर एक टिप्पण पीछे (६२) पृष्ठ पर लिख चुके हैं वह यहां पर भी पुनः ध्यातव्य है ।

स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय नहीं होता यदि संज्ञा अर्थात् किसी का नाम गम्यमान हो तो।

व्याख्या—नखमुखात् ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। न इत्यव्ययपदम् (**न क्रोडादि-बह्वचः** सूत्र से)। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। स्वाङ्गात् ।५।१। (**स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—नखं च मुखं च तयोः समाहारः नखमुखम्, तस्मात्=नखमुखात्, समाहारद्वन्द्वः। 'स्वाङ्गात्' यह 'नखमुखात्' में अन्वित होता है। 'नखमुखात्' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची जो (नखमुखात्) नख और मुख शब्द, तदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीष्) ङीष् प्रत्यय (न) नहीं होता (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य हो तो। यह सूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा प्राप्त ङीष् का निषेध करता है। ङीष् के न होने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

शूर्पणखा। यह रावण की बहन राक्षसी की संज्ञा है[1]। संज्ञाएं यद्यपि लौकिकविग्रहद्वारा प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं तथापि अज्ञों को समझाने के लिये अलीकमार्ग का आश्रय कर किसी तरह विग्रह प्रदर्शित किया जाता है। शूर्पाणीव नखानि यस्याः सा तन्नाम्नी राक्षसी शूर्पणखा (छाज की तरह नाखूनों वाली तन्नाम्नी राक्षसी, रावण की बहन)। यहां 'शूर्प जस्+नख जस्' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हो कर सुँपों का लुक् हो जाता है—शूर्पनख। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा प्राप्त पाक्षिक ङीष् का प्रकृत **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) से निषेध हो जाता है। पुनः **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ एवं वक्ष्यमाण **'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः'** (१२६८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'शूर्पणखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि यह किसी का नाम न होगा तो यौगिकवृत्ति से 'शूर्पाणीव नखानि यस्याः' इस विग्रह में **स्वाङ्गाच्चोप०** (१२६५) सूत्र से पाक्षिक ङीष् एवं टाप् हो कर—'शूर्पनखी-शूर्पनखा' बनेगा। तब वक्ष्यमाण (१२६८) सूत्र से णत्व भी न होगा, क्योंकि वह सञ्ज्ञा में ही णत्व का विधान करता है।

---

१. कुबेर ने अपने पिता विश्रवा (विश्रवस्) की सेवा के लिये तीन सुन्दरी राक्षसकन्याओं को नियुक्त किया था। जिन के नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी (देखें महाभारत वन० २७५, ३-५)। इन के द्वारा पुष्पोत्कटा से रावण और कुम्भकर्ण का, राका से खर और शूर्पणखा का तथा मालिनी से विभीषण का जन्म हुआ (देखें महाभारत वन० २७५, ७-८)।

दूसरा उदाहरण यथा—

गौरमुखा (गोरे मुख वाली तन्नाम्नी कोई स्त्री)। गौरं मुखं यस्याः सा तन्नाम्नी काचित् स्त्री। यहां 'गौर सुँ+मुख सुँ' इस विग्रह में भी पूर्ववत् बहुव्रीहि-समास, सुँब्लुक् तथा **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से प्राप्त पाक्षिक ङीष् का प्रकृत **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) सूत्र से निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् कर विभक्ति लाने से 'गौरमुखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां भी यदि संज्ञा विवक्षित न होगी तो यौगिकवृत्ति से पाक्षिक ङीष् हो कर 'गौरमुखी-गौरमुखा' बनेगा।

सञ्ज्ञा न होने पर प्रकृतसूत्र से निषेध नहीं होता। यथा—ताम्रमुखी कन्या (ताम्बे की तरह लाल मुख वाली कन्या)। यह किसी का नाम नहीं यौगिक शब्द है अतः बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद-संयोगोपधात्** (१२६५) से ङीष् तथा पक्ष में टाप् करने से 'ताम्रमुखी-ताम्रमुखा' रूप सिद्ध होते हैं। सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतसूत्रद्वारा निषेध नहीं होता।

'शूर्प+नखा' के णत्वविधान में समानपद न होने से रेफ से परे **अट्कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) द्वारा नकार को णकार नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६८) पूर्वपदात् संज्ञायामगः।८।४।३॥

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्? ताम्रमुखी कन्या॥

अर्थः—पूर्वपदस्थ निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे नकार को णकार हो जाता है सञ्ज्ञा में, परन्तु गकार का व्यवधान होने पर इस सूत्र से णत्व नहीं होता।

व्याख्या—पूर्वपदात् ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। अगः ।५।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। (**रषाभ्यां नो णः समानपदे** सूत्र से)। पूर्वपद का अभिप्राय यहां 'पूर्वपदस्थ' से है। 'पूर्वपद' कहने से सम्बन्धिशब्द के कारण 'उत्तरपद' को अध्याहृत कर उस को 'नः' से सम्बद्ध कर लिया जाता है। समासः—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् तद् अग्, तस्माद् अगः, बहुव्रीहिसमासः। 'अगः' यह 'पूर्वपदात्' का विशेषण है। अर्थः—(अगः) जिस में गकार विद्यमान नहीं ऐसा जो (पूर्वपदात्) पूर्वपद, उस में स्थित (रषाभ्याम्) रेफ या षकार निमित्त से परे (उत्तरपदस्थस्य) उत्तरपदस्थ (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो जाता है (संज्ञायाम्) संज्ञा में। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से अट्, कवर्ग, पवर्ग आदियों के व्यवधान में भी णत्व का विधान हो जाता है। इसीप्रकार **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) वार्तिकद्वारा रेफ और षकार के साथ ऋवर्ण को भी णत्वविधि में निमित्त समझना चाहिये। समास में अखण्डपद न होने के कारण णत्व प्राप्त न था अतः इस सूत्र के द्वारा विशेष परिस्थितियों में णत्व का विधान किया गया है।

'शूर्प + नखा' यहां समास में 'शूर्प' पूर्वपद है, इस में गकार विद्यमान नहीं है तथा इस में रेफ निमित्त भी मौजूद है। अतः 'नखा' इस उत्तरपदस्थ नकार को प्रकृत **पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः** (१२६८) सूत्र से णकार हो कर 'शूर्पणखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। बीच में अट् और पवर्ग का व्यवधान पड़ता था जो अनुमत होने से बाधक नहीं था। 'शूर्पणखा' यह संज्ञा है—यह पूर्वसूत्र की व्याख्या में बताया जा चुका है।

इसीप्रकार—द्रुणसः, वाध्रीणसः आदि संज्ञावाचकों में णत्व हो जाता है।[1]

पूर्वपद में गकार नहीं होना चाहिये, गकार के व्यवधान में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा – ऋचाम् अयनम् ऋगयनम्। यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में ऋच् के चकार को **चोः कुः** (३०६) से कुत्व-ककार हो कर **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व के कारण ककार को गकार हो गया है। यह ग्रन्थविशेष की संज्ञा है। परन्तु गकार के व्यवधान में णत्व नहीं होता।

प्रश्न—यदि संज्ञा में पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रकृतसूत्रद्वारा उत्तरपदस्थ नकार को णकार हो जाता है तो रघुनाथः, रमानाथः, पुनर्नवा, स्वर्भानुः (राहु), चित्रभानुः (अग्नि), नरवाहनः (कुबेर) आदियों में भी प्रकृतसूत्रद्वारा णत्व होना चाहिये क्योंकि ये भी संज्ञाएं हैं।

उत्तर—इन का क्षुभ्नादिगण में पाठ मान लेने से **क्षुभ्नादिषु च** (७१७) सूत्रद्वारा णत्व का निषेध हो जाता है। अथवा—सञ्ज्ञाएं तो ये नत्व अवस्था में ही हैं णत्व करने से तो ये संज्ञाएं ही नहीं रहेंगी, अतः इन में णत्व नहीं होता। जैसाकि नागेशभट्ट ने कहा है—**णत्वेन चेत् संज्ञा गम्यते तदाऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः। इह तु कृते णत्वे संज्ञाभङ्गापत्तेर्न णत्वम्।** (लघुशब्देन्दुशेखरे)।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(१२६९) जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।४।१।६३॥

जातिवाचि यद् न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्? बलाका। अयोपधात् किम्। क्षत्रिया॥

अर्थः—जो जातिवाचक प्रातिपदिक नित्यस्त्रीलिङ्ग न हो तथा उस की उपधा में यकार भी न हो तो उस से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जातेः ।५।१। अस्त्रीविषयात् ।५।१। अयोपधात् ।५।१। ङीष् ।१।१।

---

१. द्रुरिव = वृक्ष इव = वृक्षशाखेव नासिका यस्य तन्नामा पुरुषो द्रुणसः। वाध्रीव = रज्जुविशेष इव नासिका यस्य स वाध्रीणसो मृगविशेष इति हरदत्तः। उभयत्र बहुव्रीहौ अच् **नासिकायाः संज्ञायां नसञ्चास्थूलात्** (५.४.११८) इत्यच्समासान्तो नासिकायाश्च नसादेशः।

(अन्यतो ङीष् सूत्र से) । **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, अतः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—स्त्री विषयो (नियमेन वाच्या) यस्य तत् स्त्रीविषयम्, नित्यस्त्रीलिङ्गमित्यर्थः । न स्त्रीविषयम् अस्त्रीविषयम्, तस्मात् = अस्त्रीविषयात्, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः । नित्यस्त्रीलिङ्गभिन्नादिति भावः । यः (यकारः) उपधा यस्य तत् = योपधम्, न योपधम् अयोपधम्, तस्मात् = अयोपधात्, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः । अत्र जात्या जातिवाचकं प्रातिपदिकं गृह्यते, अर्थे कार्याऽसम्भवात् । स्वरूपमपि न गृह्यते, अस्त्रीविषयाद् इति वैयर्थ्यापत्तेः । अर्थः—(अस्त्रीविषयात्) जो नित्यस्त्रीलिङ्गी नहीं तथा (अयोपधात्) जिस की उपधा में यकार भी नहीं ऐसे (जातेः = जातिवाचकात्) जातिवाचक (अतः = अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है ।

यहां 'जाति' से पारिभाषिक जातिवाचकों का ही ग्रहण अभीष्ट है । 'जाति' की व्याकरणसम्मत परिभाषा इस प्रकार है—

आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रञ्च चरणैः सह ॥

इस श्लोक में जाति के चार लक्षण दिये गये हैं । तद्यथा—

[१] **आकृतिग्रहणा जातिः ।**

गृह्यतेऽनेन इति ग्रहणम् = व्यञ्जकम्, करणे ल्युट् । आकृतिः ग्रहणम् = व्यञ्जकं यस्याः सा = आकृतिग्रहणा । आकृति से पहचाने जाने वाली 'जाति' होती है । तात्पर्य यह है कि आकृतिविशेष जिस का व्यञ्जक होता है उसे 'जाति' कहते हैं । जैसे एक कुक्कुट (मुर्गे) या सूकर (सूअर) आदि को देख कर उस में गृहीत अवयवसंस्थान से अन्यत्र सर्वत्र कुक्कुट सूकर आदि व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है तो ये कुक्कुट, सूकर आदि प्रातिपदिक व्यक्तिवाचक होते हुए भी जातिवाचक हैं । अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृत **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कुक्कुटी' (मुर्गी) 'सूकरी' (सूअर की मादा) आदि सिद्ध हो जाते हैं ।

इसीप्रकार 'तट' शब्द भी जातिवाचक है । जल के समीप प्रदेश में एक तट को देख कर अन्यत्र सब तटों का ज्ञान हो जाता है । अतः इस जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तटी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

[२] **लिङ्गानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** (जातिः) ।[1]

---

१. या सर्वाणि लिङ्गानि न भजते । एकस्यां व्यक्तौ सकृद् आख्यातेन = उपदेशेन व्यक्त्यन्तरे उपदेशं विनाऽपि या सुग्रहा साऽपि जातिरिति जात्या लक्षणान्तरमित्यर्थः ।

किसी व्यक्ति में एक बार जिस के कथन से अन्य अनेक व्यक्तियों में उस का बोध हो जाये तो उसे भी जाति समझना चाहिये । परन्तु ऐसा शब्द त्रिलिङ्गी या सर्वलिङ्गी नहीं होना चाहिये । यथा—किसी को जब वृषल (शूद्र) कह दिया जाये तो उस के पिता, पितामह, पुत्र, भ्राता आदि का भी वृषलत्व स्वयं विदित हो जाता है । इस तरह यह 'वृषल' प्रातिपदिक जातिवाचक हुआ । इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से ङीष् प्रत्यय हो अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वृषली' (शूद्रजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस द्वितीय लक्षण में **लिङ्गानां च न सर्वभाक्** इसलिये कहा है कि शुक्ल आदि त्रिलिङ्ग प्रातिपदिकों[1] से **सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय न हो जाये । यथा—शुक्ला (बलाका) । यहां शुक्लशब्द से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है, जातिलक्षण ङीष् नहीं ।

इस द्वितीय लक्षण के अनुसार 'ब्राह्मण' शब्द भी जातिवाचक है, इस से भी प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्राप्त होता है, परन्तु शार्ङ्गरव आदि गण में इस का पाठ होने के कारण **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) सूत्र से ङीष् का बाध कर ङीन्[2] प्रत्यय हो जाता है—ब्राह्मणी । 'शूद्र' शब्द भी इसी तरह जातिवाचक है परन्तु अजादिगण में पाठ के कारण इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'शूद्रा' (शूद्रजाति की औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[3] । क्षत्त्रियशब्द के विषय में आगे मूल में ही कहेंगे ।

---

१. शुक्ल आदि शब्दों का तीनों लिङ्गों में प्रयोग देखा जाता है । यथा—शुक्लो हंसः, शुक्ला बलाका, शुक्लं वस्त्रम् । अत एव अमरकोष में कहा गया है—

गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ।

२. ङीष् और ङीन् प्रत्ययों के करने में स्वर का ही अन्तर पड़ता है । ङीष्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त तथा ङीन्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होते हैं ।

३. अजादिगण में यह गणसूत्र पढ़ा गया है—**शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः ।** अर्थात् यदि शूद्रशब्द जातिवाचक हो और उस से पूर्व 'महत्' शब्द भी न हो तो स्त्रीत्व की विवक्षा में उस से टाप् प्रत्यय होता है—शूद्रा (शूद्रजाति की औरत) । 'महत्' पूर्व में हो तो टाप् नहीं होता, जातिलक्षण ङीष् ही होता है—महाशूद्री (अहीर जाति की औरत) । पुंयोग में तो **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् निर्बाध होगा ही—शूद्रस्य स्त्री शूद्री, महाशूद्रस्य स्त्री महाशूद्री । जैसा कि अमरकोष में कहा है—

शूद्री शूद्रस्य भार्या स्याच्छूद्रा तज्जातिरेव च ।
आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा ॥

[३-४] **गोत्रं च चरणैः सह** (जातिः)।[1]

गोत्र अर्थात् अपत्यप्रत्ययान्त प्रातिपदिक तथा चरणवाची (वेदशाखाध्येतृवाचक) प्रातिपदिक भी जाति-वाचक होते हैं। यथा—उपगोरपत्यम् औपगवः (उपगु की सन्तान)। यहां 'उपगु ङस्' से अपत्य अर्थ में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) सूत्र से अण् तद्धित प्रत्यय ला कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'औपगव' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अपत्यप्रत्ययान्त होने से इस तृतीयलक्षणानुसार यह जातिवाचक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय आ कर भसंज्ञक अंकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औपगवी' (उपगु की लड़की) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अण्प्रत्ययान्त होने से 'औपगव' से स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्राप्त था, उस का यह अपवाद है।

चरणवाचियों का उदाहरण यथा—

कठेन प्रोक्तमधीते इति कठी (कठऋषिद्वारा प्रोक्त वेदशाखा को पढ़ने वाली स्त्री)। सर्वप्रथम ऋषिवाचक 'कठ' से **तेन प्रोक्तम्** (११०८) के अर्थ में **कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च** (४.३.१०४)[2] सूत्र से णिनिँ प्रत्यय हो कर **कठचरकाल्लुक्** (४.३.१०७)[3] से उस का लुक् हो जाता है। 'कठ' अर्थात् कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा। पुनः इस 'कठ' से **तदधीते** (उसे पढ़ता है) के अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) द्वारा अण् प्रत्यय हो कर उस का भी **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३)[4] से लुक् हो जाता है। अब 'कठ' शब्द का अर्थ हो गया—कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा का अध्ययन करने वाला। **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार 'कठ' यह जातिवाचक प्रातिपदिक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) इस प्रकृतसूत्रद्वारा इस से ङीष् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कठी' (कठऋषिप्रोक्त वेद-शाखा का अध्ययन करने वाली स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. चरणैः सह गोत्रं जातिरित्यर्थः। गोत्रं चरणं च जातित्वं लभते इति भावः। गोत्रशब्देनेह अपत्यमात्रं विवक्षितं न तु **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** (१००६) इति पारिभाषिकम्। गोत्रस्य आकृतिग्रहणत्वाऽभावात् सर्वलिङ्गत्वाच्च पूर्वलक्षणा-भ्याम् असंग्रहात् पृथगुपादानम्।

२. कलापिन् के शिष्यवाची तथा वैशम्पायन के शिष्यवाची तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से प्रोक्तार्थ में णिनिँ प्रत्यय होता है। 'कठ' को वैशम्पायन का शिष्य माना जाता है।

३. कठ और चरक प्रातिपदिकों से परे प्रोक्त प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

४. प्रोक्तप्रत्ययान्त द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

चरणवाची का दूसरा उदाहरण यथा—

बह्व ऋचो (अध्येतव्याः) यस्याः सा बह्वृची (बहुत ऋचाओं अर्थात् ऋग्वेद का अध्ययन करने वाली स्त्री)। 'बहु जस् + ऋच् जस्' इस बहुव्रीहिसमास में सुंपों का लुक् हो कर **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रस्थ **अनृचबह्वृचौ अध्येतर्येव** (वा०) इस इष्टि के अनुसार समासान्त 'अ' प्रत्यय करने से 'बह्वृच' यह अदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है[1]। चरणवाचक होने से यह जातिवाचक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) इस प्रकृतसूत्र से इस से ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने पर 'बह्वृची' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

जातेः किम् ? मुण्डा।

प्रकृत सूत्र द्वारा जातिवाचक से ही ङीष् का विधान किया गया है अन्य से नहीं। यथा—मुण्डा (सिर मुण्डी औरत)। 'मुण्ड' शब्द जातिवाचक नहीं, क्योंकि यहां आकृति से जाति की अभिव्यक्ति नहीं होती। सिर के मुण्डाने या न मुण्डाने से आकृति एक सी रहती है। जाति का द्वितीय लक्षण भी इस में घटित नहीं होता क्योंकि यह सर्वलिङ्गी है। अपत्यप्रत्ययान्त एवं चरणवाची न होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार भी यह जातिवाची नहीं। अतः प्रकृतसूत्रद्वारा इस से जातिलक्षण ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्त-लक्षण टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'मुण्डा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका।

प्रकृतसूत्र में 'अस्त्रीविषयात्' कहा गया है। अर्थात् जातिवाचक शब्द केवल स्त्रीलिङ्ग नहीं होना चाहिये। यथा—बलाका (बकविशेष)[3]। यह शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। इसीप्रकार—मक्षिका, पिपीलिका, यूका (जूं), खट्वा (खाट) आदि में जानना चाहिये।

---

१. इस प्रयोग की विस्तृत सिद्धि के लिये इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (९९३) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

२. कठी, बह्वृची आदि प्रयोगों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह वेद के अध्ययन-अध्यापन का पूरा पूरा अधिकार प्राप्त था, बाद में यह अधिकार किसी तरह उन से छीन लिया गया। अत एव यमस्मृति (?) में कहा है—

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥

३. **बलाका विसकण्ठिका**—इत्यमरः।

अयोपधात् किम् ? क्षत्रिया ।

जातिवाचक प्रातिपदिक की उपधा में यकार नहीं होना चाहिये अन्यथा प्रकृतसूत्र से ङीष् न होगा । यथा—क्षत्रिया (क्षत्रियजाति की औरत) । क्षत्रियशब्द उपर्युक्त द्वितीय जातिलक्षण के अनुसार जातिवाचक है परन्तु इस की उपधा में यकार है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् नहीं होता । **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् हो कर रूप सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—वैश्या (वैश्यजाति की स्त्री), इभ्या (हथिनी) आदि में जानना चाहिये ।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि 'अतः' की अनुवृत्ति के कारण इस सूत्र की प्रवृत्ति जातिवाचक अदन्त प्रातिपदिकों तक ही सीमित है । अत एव आखुः, तित्तिरिः, गौः इत्यादियों में जातिलक्षण ङीष् नहीं होता ।

अब कुछ यकारोपध प्रातिपदिकों से भी जातिलक्षण ङीष् का विधान करने के लिये अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१११) योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः ।।

हयी । गवयी । मुकयी । हलस्तद्धितस्य (१२५३) इति यलोपः—मनुषी ।।

अर्थः—यकारोपध जातिवाचकों से पूर्वसूत्रद्वारा जो ङीष् का निषेध किया गया है वह निषेध हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य इन पांच शब्दों में प्रवृत्त नहीं होता ।[1]

व्याख्या—प्रतिषेध का प्रतिषेध विधान हुआ करता है । तो इस प्रकार हय आदि पाञ्च प्रातिपदिकों से पूर्वसूत्रद्वारा जातिलक्षण ङीष् हो जाता है । उदाहरण यथा—हय (घोड़ा)—हयी (घोड़ी) । गवय (नीलगाय)—गवयी (नीलगाय की मादा) । मुकय (खच्चर)—मुकयी (खच्चरी) । ये सब जाति के प्रथमलक्षण (**आकृतिग्रहणा जातिः**) के अनुसार जातिवाचक हैं । इस प्रकृतवार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्रीविषया-दयोपधात्** (१२६६) इस पूर्वसूत्रद्वारा ङीष् हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४.१.१६१) सूत्रद्वारा मनुशब्द से तद्धित यत् प्रत्यय कर प्रकृति को षुक् का आगम करने से 'मनुष्य' शब्द निष्पन्न होता है । यह भी जातिवाचक है । इस का भी प्रकृतवार्त्तिक में उल्लेख आया है । अतः योपध होते हुए भी स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से जातिलक्षण ङीष् हो कर भसंज्ञक अकार का लोप

---

१. हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य—इन शब्दों का परिगणन गौरादिगण में भी किया गया है। परन्तु प्रकृतवार्त्तिक के कारण इन का गणगत पाठ अप्रामाणिक प्रतीत होता है । यदि गणगत पाठ को प्रामाणिक मानें तो इस वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं रहती ।

करने से 'मनुष्य् + ई' हुआ । अब **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) से उपधाभूत यकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मनुषी' (मनुष्यजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

'मत्स्य' शब्द भी जातिवाचक है[2] । इस में भी प्रकृत **योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः** (वा० १११) वार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'मत्स्य् + ई' हुआ । अब यहां उपधाभूत यकार तो है परन्तु वह तद्धित का अवयव नहीं अतः **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) के प्राप्त न होने पर अग्रिमवार्त्तिक से यकार के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(११२) **मत्स्यस्य ङ्याम्** ॥

यलोपः । मत्सी ॥

अर्थः—ङी परे होने पर ही मत्स्यशब्द के उपधाभूत यकार का लोप हो ।

व्याख्या— यह वार्तिक **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४६) सूत्र पर पढ़ा गया है । उक्त सूत्र का सरल अर्थ यह है—सूर्य, तिष्य, अगस्त्य और मत्स्य शब्दों के उपधाभूत भसंज्ञक यकार का लोप हो जाता है तद्धित या ईकार परे हो तो । इस के अनुसार ङी (ई) या तद्धित परे होने पर 'मत्स्य' के उपधाभूत यकार का लोप प्राप्त था ही पुनः **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** इस न्याय के अनुसार इस वार्त्तिक को नियमार्थ समझना चाहिये । मत्स्य के उपधाभूत भसंज्ञक यकार का लोप केवल ङी (ई) परे होने पर ही होता है अन्यत्र नहीं—यह यहां नियम फलित होता है । इस नियम के कारण तद्धित परे होने पर मत्स्य के उपधाभूत भसञ्ज्ञक यकार का लोप न

---

१. **मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च** (४.१.१६१) । अर्थः—यदि समुदाय से जाति गम्यमान हो तो मनुशब्द से तद्धितसञ्ज्ञक अञ् तथा यत् प्रत्यय होते हैं किञ्च इन प्रत्ययों के सन्नियोग में मनुशब्द को षुँक् का आगम भी हो जाता है । अञ् करने पर आदिवृद्धि हो कर 'मानुषः', तथा यत् करने पर 'मनुष्यः' प्रयोग सिद्ध होता है । मनुष्य का स्त्रीलिङ्ग 'मनुषी' तथा मानुष का स्त्रीलिङ्ग 'मानुषी' बनेगा । मानुषी का प्रयोग यथा—

मानुषीष्वः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ (शाकुन्तल १.२८)

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां
सन्दृश्यते, किमुत याः परिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति ॥ (शाकुन्तल ५.२३)

२. मद् धातु से औणादिक (उणा० ४.२) स्यन् प्रत्यय करने से 'मत्स्य' शब्द सिद्ध होता है । इसे तद्धितान्त समझने की भूल नहीं करनी चाहिये ।

होगा। इस से—मत्स्यस्य इदम् मात्स्यं मांसम्—इत्यादियों में **तस्येदम्** (११०६) से हुए अण् तद्धित के परे रहते यकार का लोप नहीं होता।

प्रकृत में 'मत्स्य + ई' इस स्थिति में **मत्स्यस्य ङ्याम्** (वा० ११२) इस वार्त्तिक के नियमानुसार ङी के परे रहते मत्स्यशब्द के उपधाभूत यकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'मत्सी' (मादा मच्छली) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा जातिलक्षण ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७०) इतो मनुष्यजातेः ।४।१।६५।।

ङीष्। दाक्षी ॥

अर्थः—मनुष्यजातिवाचक ह्रस्व-इकारान्त प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

व्याख्या—इतः ।५।१। मनुष्यजातेः ।५।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'इतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है। अर्थः—(मनुष्यजातेः) मनुष्यजातिवाचक (इतः = इदन्तात्) ह्रस्व-इकारान्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष् प्रत्ययः) ङीष् प्रत्यय हो जाता है। **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र में 'अतः' के अनुवर्त्तन के कारण उस की प्रवृत्ति अदन्त जातिवाचकों तक ही सीमित है। यहां पुनः मनुष्यजाति-वाचक इदन्त प्रातिपदिकों से ङीष् का विधान किया जा रहा है।

उदाहरण यथा—

दक्षस्यापत्यं स्त्री दाक्षी (दक्ष की सन्तति कन्या)। यहां 'दक्ष' प्रातिपदिक से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में अत इञ् (१०१४) सूत्र से तद्धितसंज्ञक इञ् (इ) प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'दाक्षि' यह ह्रस्व-इकारान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के लक्षणानुसार यह जातिवाचक है। मनुष्यजाति का वाचक होने के कारण स्त्रीत्वविवक्षा में प्रकृत **इतो मनुष्यजातेः** (१२७०) सूत्रद्वारा इस से ङीष् प्रत्यय हो भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दाक्षी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—प्लक्षस्यापत्यं स्त्री प्लाक्षी (प्लक्ष की लड़की) आदि प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये।

---

१. महाभाष्य आदि कई प्राचीन ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के प्रणेता आचार्य पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा गया है। यथा—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। (महाभाष्य १.१.२०)

इस से स्पष्ट भासित होता है कि आचार्यवर की माता दक्षकुल की कन्या थी।

अवन्ति और कुन्ति—ये शब्द जनपदवाची भी हैं और क्षत्रियवाची भी। अवन्तयो नाम जनपदाः, अवन्तयो नाम क्षत्रियाः। क्षत्रियवाची अवन्ति और कुन्ति इन इदन्त शब्दों से अपत्यार्थ में **वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्** (४.१.१६९)[1] सूत्र से ञ्यङ् प्रत्यय हो स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च** (४.१.१७४)[2] से उस प्रत्यय का लुक् हो जाता है। परन्तु **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) से अवन्ति और कुन्ति को अपत्यप्रत्ययान्त मान **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार उसे जातिवाचक (मनुष्यजाति-वाचक) स्वीकार कर स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **इतो मनुष्यजातेः** (१२७०) सूत्र से ङीष्, भसंज्ञक इकार का लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'अवन्ती' (अवन्तेरपत्यं स्त्री, अवन्ती की लड़की), कुन्ती (कुन्तेरपत्यं स्त्री, कुन्ति की लड़की) प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

पीछे से 'जातेः' की अनुवृत्ति आने पर भी इस सूत्र में 'जातेः' का पुनः उल्लेख यह व्यक्त करता है कि आचार्य मनुष्यजातिवाचक से सर्वथा ङीष् चाहते हैं। इस से इदन्त मनुष्यजातिवाचक शब्द यदि यकारोपध भी हो तो भी उस से ङीष् कर लिया जाता है। यथा—उदमेयस्याऽपत्यं स्त्री औदमेयी (उदमेय की लड़की)। 'उदमेय' से अपत्यार्थ में **तस्यापत्यम्** (१००४) से इञ् प्रत्यय, आदि अच् को वृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर 'औदमेयि' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में यकारोपध होते हुए भी इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औदमेयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इदन्त प्रातिपदिक यदि मनुष्य से भिन्न अन्य जाति का वाचक होगा तो उस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा। यथा—तित्तिरिः (तीतर की मादा)। यह इदन्त जाति-वाचक तो है परन्तु मनुष्यजाति का वाचक नहीं, अतः इस से ङीष् नहीं होता।

अब ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२७१) ऊङुतः।४।१।६६॥**

उदन्ताद् अयोपधाद् मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात्। कुरूः। अयोपधात् किम्? अध्वर्युर्ब्राह्मणी॥

अर्थः—जिस की उपधा में यकार न हो ऐसे मनुष्यजातिवाची उदन्त प्राति-पदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

---

१. अर्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची वृद्धसंज्ञकों, इदन्तों, तथा कोसल और अजाद प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ञ्यङ् प्रत्यय हो। उदाहरण यथा—(वृद्धसंज्ञकों से) आम्बष्ठानामपत्यम् आम्बष्ठ्यः, सौवीराणाम् अपत्यं सौवीर्यः। (इदन्तों से) आवन्त्यः, कौन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः।

२. अर्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची जो अवन्ति, कुन्ति तथा कुरु शब्द उन से उत्पन्न जो तद्राज प्रत्यय उन का भी स्त्रीत्व की विवक्षा में लुक् हो जाता है।

व्याख्या—ऊङ् ।१।१। उतः ।५।१। मनुष्यजातेः ।५।१। (**इतो मनुष्यजातेः** सूत्र से) । अयोपधात् ।५।१। (**जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** सूत्र से) । **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववतः अधिकृत हैं । 'उतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । **अर्थः**—(अयोपधात्) जिस की उपधा में यकार नहीं ऐसे (मनुष्यजातेः) मनुष्यजातिवाचक (उतः=उदन्तात्) उदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ऊङ् प्रत्ययः) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । ऊङ् प्रत्यय के ङकार अनुबन्ध की इत्सञ्ज्ञा एवं लोप करने पर 'ऊ' मात्र शेष रहता है । ऊङ् में ङकार अनुबन्ध **नोङ्धात्वोः** (६.१.१६९) इस स्वरविधायकसूत्र में ऊङ् के ग्रहण के लिये है अन्यथा कोई सा भी ऊकार गृहीत हो जाता । ऊङ् में दीर्घ ऊकार का ग्रहण श्वशुरस्य स्त्री—'श्वश्रूः' यहां दीर्घ के श्रवण के लिये किया गया है ।

उदाहरण यथा—

कुरोरपत्यं स्त्री—कुरूः (कुरु की लड़की) । 'कुरु' शब्द से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में **कुरु-नादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धितसञ्ज्ञक ण्य प्रत्यय हो कर **स्त्रियामवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च** (४.१.१७४) से उस का लुक् हो जाता है । इस प्रकार प्रत्ययलक्षणद्वारा अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिसञ्ज्ञक ठहरता है । पुनः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र से ऊङ् प्रत्यय हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'कुरू' शब्द निष्पन्न हो जाता है । अब इस की प्रातिपदिकसंज्ञा करनी है जिस के कारण इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सके । परन्तु कृदन्त, तद्धितान्त या समास इन में से कोई सा भी न होने के कारण इस की **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा कैसे हो क्योंकि यह ऊङ्प्रत्ययान्त है, ऊङ्प्रत्यय अष्टाध्यायी में **तद्धिताः** (९१६) अधिकार के आरम्भ होने से पहले पढ़ा गया है ? इस समस्या के समाधान के लिये यहां एक परिभाषा का आश्रयण किया जाता है—**प्राति-पदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्** (प०) अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्ग-विशिष्ट (लिङ्गयुक्त) प्रातिपदिक का भी ग्रहण हो जाता है । इस से ऊङ्प्रत्ययान्त का भी ग्रहण हो कर 'कुरू' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । तब प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँत्व तथा रेफ को अवसान में **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग आदेश करने पर 'कुरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां ङी अथवा आप् न होने से हल्ङ्यादिसूत्र (१७९) द्वारा सकार का लोप नहीं होता ।

अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

यदि उपधा में यकार होगा तो **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र की प्रवृत्ति न होगी । यथा—अध्वर्युः (ब्राह्मणी)[1] । यजुर्वेद का अध्ययन करने वाली ब्राह्मणी । यहां चरण-

१. अध्वर्युशब्दोऽत्र अध्वर्युशाखाध्यायिनीपरः, अध्वर्युशाखाध्यायिवंशोद्भवा वा, तद्वंश्य-त्वात् ताच्छब्द्यम् ।

वाची होने से 'अध्वर्यु' जातिवाचक है । परन्तु उपधा में यकार होने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ऊङ् नहीं होता, स्त्रीलिङ्ग में भी पुंलिङ्ग की तरह 'अध्वर्युः' रूप ही रहता है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पङ्गुशब्द से स्त्रीत्व में ऊङ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७२) पङ्गोश्च ।४।१।६८॥

पङ्गूः ॥

अर्थः—पङ्गुप्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पङ्गोः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ऊङ् ।१।१। (**ऊङुतः** सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(पङ्गोः प्रातिपदिकात्) पङ्गु प्रातिपदिक से परे (ऊङ् प्रत्ययः) ऊङ् प्रत्यय हो (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में ।

पङ्गुशब्द गुणवाचक है जातिवाचक नहीं, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र द्वारा ऊङ् प्राप्त नहीं होता था, इसलिये प्रकृतसूत्र से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

'पङ्गु' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **पङ्गोश्च** (१२७२) इस प्रकृतसूत्र से ऊङ्प्रत्यय, ङकार अनुबन्ध का लोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'पङ्गू' शब्द निष्पन्न होता है । अब पूर्वोक्त लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'पङ्गूः' (लङ्गड़ी औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पङ्गुरयं बालः, पङ्गूरियं वनिता ।

अब श्वशुरशब्द के स्त्रीलिङ्ग का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(११३) श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ॥

श्वश्रूः ॥

अर्थः—श्वशुर (ससुर) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में पुंयोग में ऊङ् प्रत्यय हो जाता है तथा इस के साथ 'श्वशुर' शब्द के उकार तथा अन्त्य अकार का भी लोप हो जाता है ।

व्याख्या—श्वशुरस्य ।६।१। उकाराऽकारलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । यह वार्त्तिक ऊङ्प्रत्यय के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः ऊङ् का विधायक ही समझना चाहिये । अर्थः—(श्वशुरात्) श्वशुर प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है तथा इस के साथ (श्वशुरस्य) श्वशुरशब्द के (उकाराऽकारयोः) उकार और अकार का (लोपः) लोप (च) भी हो जाता है । **श्वशुरः श्वश्र्वा** (१.२.७१) सूत्र के आधार पर यह वार्त्तिक ऊहित किया गया है अतः अन्त्य अकार

का ही लोप समझा जायेगा नकि वकारोत्तर का। ऊङ् प्रत्यय तद्धितसंज्ञक नहीं है अतः उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप प्राप्त नहीं होता था अतः इस वार्त्तिक में उस के लोप का विधान करना पड़ा है। पूर्वोक्त ज्ञापक से इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति पुंयोग में ही होती है।

उदाहरण यथा—

श्वशुरस्य स्त्री (पत्नी)— श्वश्रूः (ससुर की पत्नी अर्थात् सास)। यहां श्वशुर-शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता था उस का बाध कर प्रकृत **श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च** (वा० ११३) वार्त्तिक से ऊङ् प्रत्यय हो कर 'श्वशुर' के उकार तथा अन्त्य अकार का लोप करने पर —श्वश्र्+ऊ='श्वश्रू' बना। अब पूर्ववत् लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँआदियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय आ कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'श्वश्रूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पुनः ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७३) ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।४।१।६९।।

उपमानवाचिपूर्वपदम् ऊरूत्तरपदं यत् प्रातिपदिकं तस्माद् ऊङ् स्यात्। करभोरूः ।।

अर्थः—जिस का पूर्वपद उपमानवाचक तथा उत्तरपद 'ऊरु' हो तो उस समस्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ऊरूत्तरपदात् ।५।१। औपम्ये ।७।१। ऊङ् ।१।१। (ऊङुतः सूत्र से)। **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। ऊरुरुत्तरपदं यस्य तद् ऊरूत्तरपदम्, तस्मात्=ऊरूत्तरपदात् (प्रातिपदिकात्)। बहुव्रीहिसमासः। उत्तरपद के कथन से 'पूर्वपद' का आक्षेप किया जाता है। 'औपम्ये' का अन्वय उसी आक्षिप्त पूर्वपद में होता है। उपमीयतेऽनया इत्युपमा, उपमानमित्यर्थः, करणेऽङ्। उपमैव औपम्यम्, स्वार्थे ष्यञ्। इस प्रकार 'उपमानवाचिपूर्वपदम्' यह पद प्राप्त हो जाता है। इसे 'प्रातिपदिकात्' के साथ सम्बद्ध कर विभक्तिविपरिणाम से 'उपमानवाचिपूर्वपदात्' बना लेते हैं। अर्थः—(औपम्ये=उपमानवाचिपूर्वपदात्) उपमानवाचक जिस का पूर्वपद है तथा (ऊरूत्तरपदात्) 'ऊरु' शब्द जिस का उत्तरपद है ऐसे समस्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—

करभाविव ऊरू यस्याः सा करभोरूः (करभ के समान मांसल पट्टों वाली स्त्री)। मणिबन्ध (हाथ के पहुँचे) से ले कर कनिष्ठिका अङ्गुलि तक जो हाथ की हथेलियों का

---

१. **श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।**
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥
(रघु० १४.१३)

पार्श्ववर्त्ती मांसल भाग होता है उसे करभ कहते हैं ।[1] यहां समास में 'करभ' शब्द 'करभ के समान' अर्थ में लाक्षणिक है । 'करभ औ+ऊरु औ' इस अलौकिकविग्रह वाले अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से समास हो सुँब्लुक् कर गुण करने से 'करभोरु' यह समस्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । इस में पूर्वपद (करभ) उपमानवाचक तथा उत्तरपद 'ऊरु' है अतः प्रकृत **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (१२७३) सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय, सवर्णदीर्घ तथा लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से स्वादियों की उत्पत्ति हो प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'करभोरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—रम्भोरूः, कदलीस्तम्भोरूः, गजनासोरूः आदि प्रयोग समझने चाहियें ।

रघुवंश (६.८३) में 'करभोपमोरूः'[2] पद का प्रयोग अशुद्ध है इस के स्थान पर 'करभोपमोरुः' होना चाहिये । करभ उपमा ययोस्तौ करभोपमौ, करभोपमौ ऊरू यस्याः सा करभोपमोरुः । यहां बहुव्रीहिसमास में 'करभ' उपमान तो है पर पूर्वपद नहीं (पूर्वपद तो 'करभोपम' है), अतः प्रकृतसूत्र से ऊङ् न होगा । इसीप्रकार—उपमान पूर्वपद न होने से 'सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा सुन्दरोरुः, पीवरौ ऊरू यस्याः सा पीवरोरुः[3], वृत्तौ ऊरू यस्याः सा वृत्तोरुः' इत्यादियों में ऊङ् न होगा ।

यदि उत्तरपद में केवल 'ऊरु' शब्द न हो कर ऊर्वन्त कुछ और होगा तो भी ऊङ् न होगा । यथा—स्वामिन ऊरू स्वाम्यूरू, हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा हस्तिस्वाम्यूरुः । उत्तरपद में 'ऊरु' न हो कर 'स्वाम्यूरु' है अतः ऊङ् प्रत्यय नहीं होता[4] ।

---

१. **मणिबन्धाद् आकनिष्ठं करस्य करभो बहिर्**—इत्यमरः । 'करभ' शब्द हाथी या ऊँट के बच्चे के लिये भी प्रसिद्ध है । यदि यह अर्थ होगा तो 'उष्ट्रमुखः' की तरह समास होगा । तथाहि—करभस्य ऊरू करभोरू । करभोरू इव ऊरू यस्याः सा= करभोरूः । इस दशा में **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०) इस वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास होगा ।

२. **सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।**
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ॥ (रघु० ६.८३)

३. कुमारसम्भव (८.३६) में कालिदास ने **'पीवरोरु ! पिबतीव बर्हिणः'** इसप्रकार 'पीवरोरू' शब्द के सम्बोधन में **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (१९५) सूत्र प्रवृत्त कर जो 'पीवरोरु' प्रयोग किया है वह पाणिनीयव्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं है । यहां उपमानपूर्वपद न होने से ऊङ् का विधान सम्भव नहीं । [अथवा—**सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** इत्याश्रित्य **ह्रस्वस्य** गुणः (१६९) इत्यस्याऽप्रवृत्तेः कथञ्चित्समाधेयोऽयम्प्रयोगः] ।

४. इस सूत्र के अर्थ का वैयाकरणों में क्रमिक विकास हुआ है । विशेषजिज्ञासु इस के लिये लेखक के सुप्रसिद्ध शोधप्रबन्ध **न्यासपर्यालोचन** (२.३०) का अवलोकन करें ।

अब पूर्वपद उपमानवाची न होने पर भी ऊरूत्तरपद से अग्रिमसूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७४) संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च ।४।१।७०।।

अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । शफोरूः । वामोरूः ।।

अर्थः—संहित (संश्लिष्ट, जुड़ा हुआ, सटा हुआ), शफ (खुर), लक्षण (लक्षणवान्, सुलक्षण), वाम (अतिसुन्दर)—इन में से कोई जिस का पूर्वपद तथा 'ऊरु' शब्द जिस का उत्तरपद हो तो ऐसे समस्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

उपमानवाची पूर्वपद न होने के कारण पूर्वसूत्रद्वारा ऊङ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से विधान किया जा रहा है।

व्याख्या—संहित-शफ-लक्षण-वामादेः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ऊरूत्तरपदात् ।५।१। (**ऊरूत्तरपदादौपम्ये** सूत्र से) । ऊङ् ।१।१। (ऊङुतः सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—संहितश्च शफश्च लक्षणश्च वामश्च संहित-शफ-लक्षण-वामाः, संहित-शफ-लक्षण-वामा आदयः (आद्यवयवाः) यस्य सः = संहित-शफ-लक्षण-वामादिः, तस्मात् = संहितशफलक्षणवामादेः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(संहित-शफ-लक्षण-वामादेः) संहित, शफ, लक्षण, वाम—आदि वाले तथा (ऊरूत्तरपदात्) ऊरु-उत्तरपद वाले (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ् प्रत्ययः) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है। क्रमशः उदाहरण यथा—

संहितौ ऊरू यस्याः सा = संहितोरूः (संश्लिष्ट अर्थात् परस्पर सटे हुए पट्टों वाली स्त्री) । यहां 'संहित औ + ऊरु औ' इस अलौकिकविग्रह में अन्यपद के अर्थ में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो सुँब्लुक् कर गुण करने से 'संहितोरु' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय हो सवर्णदीर्घ कर पूर्ववत् प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'संहितोरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शफौ (खुरौ)[1] ऊरू यस्याः सा शफोरूः (खुर हैं ऊरु जिस के, अर्थात् खुरों की

---

१. खुरवाची शफशब्द अमरकोष में **शफं क्लीबे खुरः पुमान्** इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग माना गया है। परन्तु लोक में यह पुंलिङ्ग भी देखा जाता है। अत एव हेमचन्द्र ने अपने कोष में **शफः खुरे गवादीनां मूले विटपिनामपि** इस प्रकार इसे पुंस्त्व में प्रयुक्त किया है। **ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री** (१.२.७३) सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरी में इसे पुंलिङ्ग प्रयुक्त किया गया है। राथ् ने अपने कोष में भी इस की पुन्नपुंसकता कही है।

तरह संश्लिष्ट पट्टों वाली स्त्री)। यहां भी पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में सादृश्य के कारण ऊरुओं में खुरत्व का आरोप किया गया है, अतः उपमानवाचिपूर्वपद न होने से पूर्वसूत्र-द्वारा ऊङ् प्रत्यय प्राप्त न था।

सूत्रगत 'लक्षण' शब्द **अर्शआदिभ्योऽच्** (११६५) से प्राशस्त्य अर्थ में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। प्रशस्तं लक्षणम् अस्त्यस्येति लक्षणः (शुभलक्षण वाला)। लक्षणौ (शुभलक्षणवन्तौ) ऊरू यस्याः सा=लक्षणोरूः (शुभलक्षणयुक्त पट्टों वाली स्त्री)। पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में ऊङ् हो गया है।

वामशब्द अतिसुन्दर अर्थ में त्रिलिङ्गी है[1]। वामौ=अतिसुन्दरौ ऊरू यस्याः सा=वामोरूः (अतिसुन्दर पट्टों वाली स्त्री)[2]। पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् हो कर ऊङ् हो गया है।

अब ङीन् प्रत्यय का अग्रिमसूत्र से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७५) शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ।४।१।७३।।

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। ब्राह्मणी।।

अर्थः—शार्ङ्गरव आदि गणपठित प्रातिपदिक से तथा अञ् प्रत्यय का जो अकार तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शार्ङ्गरवादि।५।३। (लुप्तपञ्चम्यन्तं पृथक्पदम्)। अञः।६।१। ङीन् ।१।१। जातेः।५।१। (**जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** सूत्र से)। **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**— ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अञः' इस षष्ठ्यन्त का अन्वय 'अतः' के साथ होता है। किञ्च 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जाती है। 'अञो योऽत्, तदन्ताद् जातिवाचिनः प्रातिपदिकात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न हो जाता है। अर्थः—(शार्ङ्गरवादेः) शार्ङ्गरव आदि गण में पढ़े प्रातिपदिक से तथा (अञः) अञ् प्रत्यय का जो (अतः) अत् तदन्त (जातेः प्रातिपदिकात्) जातिवाचक प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीन्) ङीन् प्रत्यय हो जाता है।[3]

ङीन् में ङकार और नकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'ई' मात्र शेष रहता है। ङीन्प्रत्ययान्त शब्द **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा आद्युदात्त होते

---

१. **वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे**—इति विश्वः।

२. **तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्**—(रघु० ८.५७)।
हे वामोरु!, सम्बुद्धौ **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (१९५) इति ह्रस्वः।

३. 'जातेः' का सम्बन्ध यथासम्भव 'शार्ङ्गरवादि' से भी कर लेना चाहिये। इस से शार्ङ्गरवादियों से विहित यह ङीन् जातिलक्षण ङीष् का ही अपवाद होगा, पुंयोग में होने वाले ङीष् का नहीं। अत एव 'शार्ङ्गरवस्य स्त्री' इस प्रकार पुंयोग की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् ही होता है ङीन् नहीं।

हैं जबकि ङीष्प्रत्ययान्त शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, यही ङीन् और ङीष् करने में अन्तर होता है।

उदाहरण यथा—

शृङ्गरोरपत्यं स्त्री शार्ङ्गरवी (शृङ्गरु की लड़की)। शृङ्गरु नामक कोई व्यक्ति है। तद्वाचक 'शृङ्गरु' शब्द से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से उकार को ओकार गुण एवम् **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश हो कर 'शार्ङ्गरव' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। **गोत्रञ्च चरणैः सह** के अनुसार अपत्यप्रत्ययान्त होने से यह जातिवाचक है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का बाध कर प्रकृत **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) सूत्र से इस मे परे ङीन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'शार्ङ्गरव+ई' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शार्ङ्गरवी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार 'ब्राह्मण' शब्द शार्ङ्गरवादियों के अन्तर्गत पढ़ा गया है। यह **लिङ्गानां च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** के अनुसार जातिवाचक है[1]। अतः इस से भी पूर्ववत् प्राप्त जातिलक्षण ङीष् का बाध कर प्रकृतसूत्र से ङीन् प्रत्यय कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'ब्राह्मणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। याद रहे कि 'ब्राह्मणी' में जातिलक्षण ङीष् करना अशुद्ध है।

अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक का उदाहरण यथा—

बिदस्य गोत्रापत्यं स्त्री बैदी (बिदनामक व्यक्ति की गोत्रापत्य लड़की)। यहां 'बिद' से गोत्रापत्य अर्थ में **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्र से अञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर 'बैद' शब्द निष्पन्न होता है। यहां अञ् का जो अकार तदन्त प्रातिपदिक 'बैद' है ही। अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिवाचक भी है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से प्राप्त जातिलक्षण ङीष् का बाध कर प्रकृतसूत्र से ङीन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'बैदी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

---

१. अथवा—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः [**तस्यापत्यम्** (१००४) इत्यण्, अन् (१०२४) इति टिलोपो न] इस प्रकार अपत्यप्रत्ययान्त होने के कारण **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार जातिवाचक है।

२. अञन्त जातिवाचक से ङीन् हो—ऐसा सीधा सरल अर्थ न कर के 'अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक से ङीन् हो' इस प्रकार का अर्थ करना तथा सूत्र के सीधे 'शार्ङ्गरवाद्यञः' पद में 'शार्ङ्गरवादि' को लुप्तपञ्चम्यन्त तथा 'अञः' को षष्ठ्यन्त मान कर उपर्युक्त झमेलों से भरे अर्थ करने की यहां आवश्यकता ही

अब शाङ्र्गरवादिगण के अन्तर्गत एक गणसूत्र का निर्देश करते हैं--

[लघु०] गणसूत्रम्--**नृनरयोर्वृद्धिश्च** ॥

नारी ॥

अर्थः—नृ और नर इन दो जातिवाचक प्रातिपदिकों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन् प्रत्यय तथा इस के साथ नृ और नर शब्दों को वृद्धि भी हो जाती है।

व्याख्या—यह गणसूत्र शाङ्र्गरवादियों में पढ़ा गया है अतः ङीन्विषयक ही समझना चाहिये। नृ (मनुष्य) शब्द **आकृतिग्रहणा जातिः** के अनुसार जातिवाचक है। परन्तु अदन्त न होने से इस से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्राप्त नहीं, **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् ही प्राप्त है। इसी तरह 'नर' शब्द भी जातिवाचक है परन्तु अदन्त होने से यहां **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) से ङीष् प्राप्त है। इन दोनों का अपवाद यह ङीन् प्रत्यय विधान किया जा रहा है किञ्च ङीन् के साथ इन प्रातिपदिकों में वृद्धि का विधान भी हो रहा है।

नृशब्द का उदाहरण यथा—

'नृ' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में शाङ्र्गरवादिगणान्तर्गत **नृनरयोर्वृद्धिश्च** इस गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय तथा 'नृ' के इक्-ऋकार को वृद्धि (आर्) हो कर विभक्तिकार्य करने से 'नारी' (स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

क्या है ? यह शङ्का प्रबुद्ध जिज्ञासुओं के मन में बार बार उठा करती है। इस का प्रयोजन समझने के लिये 'शूरसेनी' उदाहरण को समझना होगा। शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी (शूरसेन की सन्तान लड़की)। यहां 'शूरसेन' से अपत्य अर्थ में **जनपद-शब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अञ् प्रत्यय हो कर **अतश्च** (४.१.१७५) सूत्र से उस का लुक् हो जाता है—शूरसेन। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रत्यय करना है। यदि प्रकृतसूत्र का सीधा सरल 'शाङ्र्गरवादियों तथा अञ्-प्रत्ययान्त जातिवाचकों से ङीन् हो' इस प्रकार का अर्थ करते हैं तो यहां भी प्रत्ययलक्षणद्वारा अञन्त मान लेने से ङीन् प्रत्यय की प्राप्ति होने लगती है जो अनिष्ट है। परन्तु उपर्युक्त अर्थ करने से 'अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक से ङीन् हो' इस प्रकार अञ् के अकार के न रहने से यहां ङीन् नहीं होता। अकार को प्रत्ययलक्षण से भी नहीं माना जा सकता—**वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्**। अब **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से ङीष् हो कर 'शूरसेनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यदि ङीन् किया गया होता तो 'शूरसेनी' में आद्युदात्त स्वर होता जो अब ङीषन्त होने से अन्तोदात्तस्वर होता है।

१. **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनु० ३.५६)
नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (गणरत्न०), विना स्त्री के लोकयात्रा निष्फल है।

इसीप्रकार 'नर' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नृनरयोर्वृद्धिश्च** इस गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय हो कर—नर+ई। अब इसी गणसूत्र से अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा 'नर' के अन्त्य अकार को वृद्धि (आ) प्राप्त होती है और इधर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा उस अकार का लोप प्राप्त होता है। **वार्णादाङ्गं** बलीयः (वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होता है) इस परिभाषा के अनुसार अङ्गसम्बन्धी कार्य अर्थात् भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—नर्+ई। अब यहां लौकिकप्रयोग के अनुरोध से अथवा आन्तरतम्य से 'नर्' के नकारोत्तर अकार को ही वृद्धि (आ) हो कर विभक्तिकार्य करने से नारी (मनुष्यजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

'नारी' प्रयोग 'नृ' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है पुनरपि 'नर' शब्द से जातिलक्षण ङीष् हो कर कहीं 'नरी' न बन जाये इसलिये नरशब्द से भी 'नारी' बनाया गया है। यहां जातिलक्षण ङीन् है, पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से तो ङीष् होगा ही—नरस्य स्त्री नरी (पत्नी)। नृशब्द से पुंयोग में ङीष् नहीं होता कारण कि वह अदन्त नहीं।[2]

अब 'ति' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७६) **यूनस्तिः** ।४।१।७७॥

युवन्शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात्। युवतिः॥

अर्थः—युवन्शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ति' प्रत्यय हो।

---

१. कई वैयाकरणों का कथन है कि इस वार्त्तिक में ही लुप्त-अकार नरशब्द (नर्) के नकारोत्तर अकार को ही वृद्धि करने का स्पष्ट उल्लेख है। वे लोग वार्त्तिकगत 'नृनरयोः' पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

नर्शब्द का षष्ठ्येकवचन बनेगा—नरः (नर्शब्द का)।

नरः अः=नरः, षष्ठीतत्पुरुषः, अर्थ होगा—नर् का अ।

नृशब्द का प्रथमैकवचन 'ना' बनता है। ना च नरः च—

नृनरौ, तयोः=नृनरयोः, द्वन्द्वसमासः। नृशब्द के स्थान पर तथा नर् शब्द के अकार के स्थान पर वृद्धि हो—इस प्रकार वार्त्तिक का अर्थ हो जायेगा। नृशब्द के स्थान पर होने वाली वृद्धि **इको गुणवृद्धी** (१.१.३) परिभाषा के अनुसार नृशब्द के ऋकार को ही होगी।

२. शार्ङ्गरवादिगण यथा—

शार्ङ्गरव। कापटव। गौगुलव। ब्राह्मण। गौतम। कामण्डलेय। ब्राह्मकृतेय। आनिचेय। आनिधेय। आशोकेय। वात्स्यायन। मौञ्जायन। कैकसेय। काव्य। शैव्य। एहि। पर्येहि। आश्मरथ्य। औदपान। अराल। चण्डाल। वतण्ड। **भोगवद्गौरिमतोः संज्ञायाम्**—भोगवती, गौरिमती। **नृनरयोर्वृद्धिश्च**—नारी। इस गण का विवेचन काशिका, शब्दकौस्तुभ आदि में देखें।

व्याख्या—यूनः ।५।१। तिः ।१।१। **स्त्रियाम्, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(यूनः) युवन् प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (तिः) ति (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है ।

उदाहरण यथा—

युवन् (जवान) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक 'ति' प्रत्यय हो कर—'युवन् + ति' हुआ । अब **स्वादिष्वसर्वनाम-स्थाने** (१६४) से तिप्रत्यय के परे रहते युवन् की पदसंज्ञा हो **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है—युवति । तद्धितान्त होने के कारण **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर अब 'युवति' से स्वादियों की उत्पत्ति होती है[1] । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'युवतिः' (जवान स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] ।

प्रकृतसूत्र **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः बहुव्रीहि-समास में जब युवन्शब्द उपसर्जन होता है तब इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती—बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा नगरी[3] ।

---

१. **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) इस अधिकार के कारण सुँ आदियों की उत्पत्ति ङी और आप् से तो हो सकती है पर तिप्रत्ययान्त से नहीं, इसलिये प्रकृत में 'ति' प्रत्यय की तद्धितसंज्ञा की गई है जिस से तद्धितान्त की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस से स्वादियों की उत्पत्ति हो सके । परन्तु यह प्रयोजन लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से भी सिद्ध हो सकता है जैसाकि ऊङ्प्रत्ययान्तों में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति हुआ करती है । अतः यहां 'ति' की तद्धितसंज्ञा करना निष्प्रयोजन सा प्रतीत होता है । तद्धितसंज्ञा का उपयोग अष्टाध्यायी में आगे किया जाना उचित है । शायद इसी विचार से प्रेरित हो कर लघुसिद्धान्तकौमुदीकार वरदराज ने यहां वृत्ति (सूत्रार्थ) में तिप्रत्यय की तद्धितसंज्ञा का कोई उल्लेख नहीं किया ।

२. **युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्** । (नीतिशतक ५४)
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः । (शाकुन्तल ४.१८)

३. 'ति' से मुक्त होने पर **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है । उस का **अनो बहुव्रीहेः** (४.१.१२) से निषेध हो जाता है । पुनः **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** (४.१.१३) सूत्रद्वारा विकल्प से डाप् प्रत्यय हो जाता है । डाप्पक्ष में डित्त्व के कारण टि का लोप हो जाता है । पक्षान्तर में राजन्शब्दवत् प्रक्रिया होती है । प्रथमैकवचन में रूप दोनों पक्षों का एक जैसा बनता है—बहुयुवा (नगरी) ।

कहीं कहीं साहित्य में 'युवती' ऐसा दीर्घघटित प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है।[1] वहां 'युवति' शब्द से **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) से ङीष् प्रत्यय कर भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'युवती' शब्द की सिद्धि समझनी चाहिये। अथवा—**यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः** (अदा० प०) धातु के शत्रन्त 'युवत्' रूप से **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् कर विभक्ति लाने से 'युवती' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है। यौति=मिश्रीकरोति आत्मानं पत्येति युवती।

स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्र एवं वार्त्तिक व्युत्पन्न विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये यहां संक्षेप से सोदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) वनो र च ।४।१।७॥

अर्थः—वन्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय तथा इस के साथ वन् के नकार को रेफ आदेश भी हो जाता है।

ङीप् तो **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से प्राप्त था ही, वन् के नकार को रेफ आदेश विधान करने के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

पारदृश्वन्—पारदृश्वरी (जो पार को देख चुकी है, पारंगता)।[2]
शास्त्रदृश्वन्—शास्त्रदृश्वरी (शास्त्रों की ज्ञाता स्त्री)।
राजकृत्वन्—राजकृत्वरी (राजा को बनाने वाली स्त्री)।[3]
सहकृत्वन्—सहकृत्वरी (साथ कर चुकी स्त्री)।[4]
प्रातरित्वन्—प्रातरित्वरी (प्रातःकाल जाने वाली स्त्री)।[5]
पीवन्—पीवरी (स्थूला स्त्री, रक्षा करने वाली)।[6]

---

१. **न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम्।**
परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः॥ (हितोप० २.१३१)

२. पारं दृष्टवतीति पारदृश्वरी। शास्त्रं दृष्टवतीति शास्त्रदृश्वरी। **दृशेः क्वनिप्** (८०८) सूत्रद्वारा इन में क्वनिप् प्रत्यय किया गया है। सम्पूर्ण सिद्धि इसी सूत्र (८०८) पर लिख चुके हैं वहीं देखें।

३. राजानं कृतवतीति राजकृत्वरी। **राजनि युधि-कृञः** (८०९) सूत्रद्वारा 'कृ' धातु से क्वनिप् प्रत्यय हो कर तुंक् का आगम (७७७) हो जाता है।

४. सह कृतवतीति सहकृत्वरी। **सहे च** (८१०) सूत्र से क्वनिप् प्रत्यय हो जाता है। तुंक् का आगम पूर्ववत् समझना चाहिये।

५. प्रातर् एति (गच्छति) इति प्रातरित्वरी। प्रातर्पूर्वक **इण् गतौ** (अदा० परस्मै०) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से **क्वनिप्** प्रत्यय हो कर तुंक् का आगम हो जाता है।

६. **प्यैङ् वृद्धौ** (भ्वा० आत्मने०)। **प्याय्योः सम्प्रसारणं च** (उणा० ४.११६) इति क्वनिपि सम्प्रसारणम्, **हलः** (८१९) इति दीर्घः।

धीवन्—धीवरी (ध्यान करने वाली)।[1]
सुत्वन्—सुत्वरी (निचोड़ने वाली)।[2]
इस सूत्र की प्रवृत्ति वन्नन्तान्त से भी होती है।
यथा—धीवानम् अतिक्रान्ता—अतिधीवरी। अतिपीवरी।

(२) वा०—वनो न हश इति वक्तव्यम् ॥

अर्थः—यदि हशन्त धातु से वन्प्रत्यय विधान किया गया हो तो उस वन्नन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्+रत्व नहीं होता। उदाहरण यथा—

राजयुध्वन्—राजयुध्वा, राजयुध्वानौ, राजयुध्वानः।[3]
सहयुध्वन्—सहयुध्वा, सहयुध्वानौ, सहयुध्वानः।[4]
अवावन्—अवावा ब्राह्मणी (चुराने वाली ब्राह्मणी)।[5]

(३) पादोऽन्यतरस्याम् ।४।१।८॥

अर्थः—'पाद' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीप् हो।

अप्राप्ति में ङीप् का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

---

१. **ध्यै चिन्तायाम्** (भ्वा० परस्मै०)। पूर्ववत् क्वनिँपि सम्प्रसारणे **हलः** (८१९) इति दीर्घत्वम्।

२. **षुञ् अभिषवे** (स्वा० उभय०)। **सुयजोर्ङ्वनिँप्** (३.२.१०३) इति ङ्वनिँपि तुँगागमः (७७७)।

३. राजानं योधितवतीति राजयुध्वा। **राजनि युधिकृञः** (८०९) सूत्र पर इस की सिद्धि देखें।

४. सह युद्धवतीति सहयुध्वा। **सहे च** (८१०) सूत्र पर इस की सिद्धि देखें।

५. **ओणृँ अपनयने** (भ्वा० परस्मै०) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्रद्वारा वनिँप् प्रत्यय कर **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (८०१) से णकार को आकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'अवावन्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां प्रकृतवार्त्तिकद्वारा ङीप्+रत्व का निषेध हो कर स्त्रीलिङ्ग में भी पुंलिङ्गवत् 'अवावा' प्रयोग बनता है। परन्तु न्यासकार प्रकृतवार्त्तिक को क्वाचित्क मान कर यहां पर भी ङीप्+रत्व का विधान मानते हैं—अवावरी। साहित्य में ऐसे प्रयोग देखे भी जाते हैं—

अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम्।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ॥

(लौगा० गृ० सूत्र की टीकारम्भ)

सु (शोभनौ) पादौ यस्याः सा सुपदी सुपाद् वा (सुन्दर पैरों वाली)।
द्वौ पादौ यस्याः सा द्विपदी द्विपाद् वा (दो पैरों वाली)।
त्रयः पादा यस्याः सा त्रिपदी त्रिपाद् वा (तीन पैरों वाली)।
चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पदी चतुष्पाद् वा (चार पैरों वाली)।

बहुव्रीहिसमास में **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) सूत्र से पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जाता है। तब प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ङीप् करने पर ङीप्पक्ष में भसंज्ञा हो कर **पादः पत्** (३३३) सूत्र से भसंज्ञक 'पाद्' को 'पद्' आदेश हो जाता है। ङीप् के अभाव में भसंज्ञा न होने से पद् आदेश नहीं होता—सुपाद्। इन रूपों की सिद्धि समासप्रकरण में (९७५) सूत्र पर देखें।

(४) **मनः** ।४।१।११॥

अर्थः—'मन्' जिस के अन्त में हो उस प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय नहीं होता।

'मन्' चाहे सार्थक हो या निरर्थक दोनों का यहां ग्रहण हो जाता है।[1]

उदाहरण यथा—

दामन् (रस्सी)—दामा, दामानौ, दामानः।
पामन् (खुजली)—पामा, पामानौ, पामानः।
सीमन् (सीमा-हद्द)—सीमा, सीमानौ, सीमानः।
अतिमहिमन्[2]—अतिमहिमा, अतिमहिमानौ, अतिमहिमानः।

(५) **अनो बहुव्रीहेः** ।४।१।१२॥

अर्थः—'अन्' जिस के अन्त में हो उस बहुव्रीहि से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण यथा—

शोभनं चर्म यस्याः सा सुचर्मा मृगी। सुचर्माणौ, सुचर्माणः।
शोभनानि पर्वाणि यस्याः सा सुपर्वा यष्टिः। सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः।
बहवो यज्वानो यस्यां सा बहुयज्वा नगरी। बहुयज्वानौ, बहुयज्वानः।

(६) **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** ।४।१।१३॥

अर्थः—पूर्वोक्त मन्नन्तों तथा अन्नन्तबहुव्रीहि से स्त्रीत्व की विवक्षा में एक पक्ष में डाप् प्रत्यय भी हो जाता है।

डाप् (आ) करने पर **टेः** (२४२) सूत्र से भसंज्ञक टि का लोप हो जाता है। डाप् के अभाव में पूर्वोक्त निषेधों के कारण नान्त रूप ही रहेंगे। उदाहरण यथा—(मन्नन्तों से)

---

१. **अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति** (प०)। इस परिभाषा की व्याख्या (२८७) सूत्र पर देखें।

२. महिमानम् अतिक्रान्ता—अतिमहिमा देवी। **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इति समासः। 'महिमन्' शब्द इमनिँच्प्रत्ययान्तः पुंलिङ्गः।

दामन् + डाप् = दामन् + आ = दाम् + आ = दामा, दामे, दामाः ।

पामन् + डाप् = पामन् + आ = पाम् + आ = पामा, पामे, पामाः ।

सीमन् + डाप् = सीमन् + आ = सीम् + आ = सीमा, सीमे, सीमाः ।

अतिमहिमन् + डाप् = अतिमहिमन् + आ = अतिमहिम् + आ = अतिमहिमा, अतिमहिमे, अतिमहिमाः ।

अन्नन्त बहुव्रीहि से भी—

सुचर्मन् + डाप् = सुचर्मन् + आ = सुचर्म् + आ = सुचर्मा, सुचर्मे, सुचर्माः ।

सुपर्वन् + डाप् = सुपर्वन् + आ = सुपर्व् + आ = सुपर्वा, सुपर्वे, सुपर्वाः ।

बहुयज्वन् + डाप् = बहुयज्वन् + आ = बहुयज्व् + आ = बहुयज्वा, बहुयज्वे, बहुयज्वाः ।

(७) **अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्** ।४।१।२८॥

अर्थः—जिस की उपधा का लोप होता हो ऐसे अन्नन्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में डाप् तथा ङीप्-निषेध प्रवृत्त होंगे ।

उदाहरण यथा—

'बहवो राजानो यस्यां सा' इस बहुव्रीहिसमास में सुँपों का लुक् हो कर 'बहु-राजन्' इस अवस्था में स्त्रीत्व के विवक्षित होने पर प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ङीप् हो जाता है ।

ङीप्पक्ष में—बहुराजन् + ङीप् = बहुराजन् + ई । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है—बहुराज्न् + ई । **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा श्चुत्व से नकार को ञकार कर विभक्ति लाने से 'बहुराज्ञी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ, बहुराज्ञ्यः । नदीवत् रूपमाला चलेगी ।

पक्ष में **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** (४.१.१३) से डाप् प्रत्यय हो जाता है—बहुराजन् + डाप् = बहुराजन् + आ । **टेः** (२४२) सूत्र से भसंज्ञक टि का लोप हो कर —बहुराज् + आ = 'बहुराजा' यह आबन्त शब्द सिद्ध हो जाता है । बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः । रमावत् रूपमाला चलेगी ।

डाप् के अभावपक्ष में **अनो बहुव्रीहेः** (४.१.१२) से ङीप् का निषेध रहेगा । तब 'बहुराजन्' नकारान्त रहेगा, रूपमाला स्त्रीलिङ्ग में भी राजन्शब्द की तरह होगी —बहुराजा, बहुराजानौ, बहुराजानः ।

(८) **दाम-हायनान्ताच्च** ।४।१।२७॥

अर्थः—संख्यावाचक जिस के आदि में हो तथा दामन् या हायन शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे समस्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

द्वे दाम्नी यस्याः सा द्विदाम्नी वडवा (दो रस्सियों वाली घोड़ी) । त्रीणि दामानि

यस्याः सा त्रिदाम्नी वडवा (तीन रस्सियों वाली घोड़ी)। ङीप् के परे रहते भसंज्ञक अन् के अकार का **अल्लोपोऽनः** (२४७) से लोप हो जाता है।

द्वे हायने यस्याः सा द्विहायनी बाला (दो वर्ष की लड़की)। त्रिहायणी। चतुर्हायणी। आयुर्वाचक 'हायन' शब्द ही का यहां ग्रहण अभीष्ट है। त्रिहायणी, चतुर्हायणी—इन में णत्व भी वयोवाच्य होने पर ही इष्ट है। वयोवाच्य न होने पर ङीप् और णत्व दोनों नहीं होते। यथा—त्रिहायना शाला, चतुर्हायना शाला। टाप् ही होता है।

(९) केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽऽर्यकृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च ॥ ।४।१।३०॥

अर्थः—केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल और भेषज—इन नौ शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में नित्य ङीप् प्रत्यय हो जाता है **संज्ञा** या ।अन्यत्र टाप् होगा।

शब्द	वेद या संज्ञा में	अन्यत्र लोक में
१. केवल	केवली	केवला[1]
२. मामक	मामकी	मामिका[2]
३. भागधेय	भागधेयी	भागधेया
४. पाप	पापी	पापा
५. अपर	अपरी	अपरा[3]
६. समान	समानी[4]	समाना
७. आर्यकृत	आर्यकृती	आर्यकृता
८. सुमङ्गल	सुमङ्गली[5]	सुमङ्गला
९. भेषज	भेषजी	भेषजा

(१०) वा०—पाणिगृहीती भार्यायाम् ॥

अर्थः—यदि विधिवत् पाणिग्रहण किया गया हो तो उस स्त्री को पाणिगृहीती (ङीष्प्रत्ययान्त) कहना चाहिये अन्यथा पाणिगृहीता (टाप्प्रत्ययान्त)।[6]

---

१. **किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।** (पञ्च० २.१३४)

२. **सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।** (गीता० ९.७)

३. **स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे।** (शाकुन्तल २.१०)

४. **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ (ऋग्वेद १०.१९१.३)

५. **सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।** (ऋग्वेद १०.८५.३३)

६. पाणिर्गृहीतो यस्याः (विधिवत्) सा पाणिगृहीती भार्या। यस्यास्तु कथञ्चित् पाणिर्गृह्यते सा पाणिगृहीता।

(११) **सख्यशिश्वीति भाषायाम् । ४।१।६२॥**

अर्थः—सखी और अशिश्वी ये दो ङीषन्त प्रयोग स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में लौकिकसंस्कृत में प्रयुक्त होते हैं।

सखि (मित्र) शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय कर भसंज्ञक इकार का लोप करने पर 'सखी' शब्द निष्पन्न होता है। सहेली को 'सखी' कहते हैं।[1] **आलिः सखी वयस्या च**—इत्यमरः।

अविद्यमानः शिशुर्यस्याः सा अशिश्वी (अनपत्या, सन्ततिरहिता स्त्री)। यहां बहुव्रीहिसमास में 'अशिशु' से ङीष् प्रत्यय कर **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार आदेश करने से 'अशिश्वी' निष्पन्न होता है। **अशिश्वी शिशुना विना**—इत्यमरः।

(१२) **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुँक् ।४।१।३२॥**

अर्थः—अन्तर्वत् तथा पतिवत् प्रातिपदिकों को स्त्रीत्व की विवक्षा में नुँक् का आगम हो जाता है। **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषा के अनुसार यह आगम अन्तावयव होता है। तब शब्दों के नान्त हो जाने से **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

अन्तर्वत् नुँक्+ङीप्=अन्तर्वत्नी (सगर्भा स्त्री)।

पतिवत् नुँक्+ङीप्=पतिवत्नी (जीवित पतिवाली स्त्री)।[2]

(१३) **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।४।१।३३॥**

अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में पतिशब्द के इकार को नकार आदेश हो जाता है,

---

१. **गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।**
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

(रघु० ८.६७)

२. अन्तर्+मतुँप्=अन्तर्वत्। यहां अन्तर्शब्द अधिकरण-शक्तिप्रधान अव्यय है अतः प्रथमान्त न होने से इस से मतुप् की प्राप्ति न थी। उस का यहां निपातन समझना चाहिये। मतुप् के मकार को वत्व **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से हो जाता है।

पति+मतुँप्=पतिवत्। यहां मतुँप् तो प्राप्त है परन्तु वत्व नहीं उस का इस सूत्र से निपातन समझना चाहिये।

ध्यान रहे कि अर्थविशेष में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। सगर्भा अर्थ में 'अन्तर्वत्नी' का तथा जीवितभर्तृका के अर्थ में 'पतिवत्नी' शब्द का प्रयोग होता है। अन्तरस्त्यस्यां गर्भ इत्यन्तर्वत्नी गर्भवती। **आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी**—इत्यमरः।

पतिरस्त्यस्या इति पतिवत्नी जीवत्पतिः। **पतिवत्नी सभर्तृका**—इत्यमरः।

यज्ञ के साथ संयोग गम्यमान हो तो। नकारादेश हो कर प्रातिपदिक नकारान्त हो जाता है तब **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

पत्नी पति के साथ मिल कर यज्ञ की अधिकारिणी होती है और इस तरह यज्ञ के फल की भी भोक्त्री होती है।

उदाहरण यथा—

यजमानस्य पत्नी। वसिष्ठस्य पत्नी अक्षमाला। याज्ञवल्क्यपत्नी मैत्रेयी।

यज्ञसंयोग गम्य न होने पर नहीं होता। यथा—ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी (यह ब्राह्मणी ग्राम की स्वामिनी है)।

पत्नीव पत्नी—ऐसा औपचारिक प्रयोग भी होता है। यथा—वृषलस्य पत्नी। शूद्रस्य पत्नी।[1]

(१४) **विभाषा सपूर्वस्य** ।४।१।३४॥

अर्थः—पूर्वपद से युक्त पतिशब्दान्त प्रातिपदिक को स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से नकारादेश होता है। जहां नकार आदेश होगा वहां **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् होगा। नकार के अभाव में वैसे का वैसा रूप रहेगा।

उदाहरण यथा—

गृहस्य पतिः—गृहपत्नी गृहपतिर्वा।

सभायाः पतिः—सभापत्नी सभापतिर्वा।

बहुव्रीहिसमास में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है—

वृद्धः पतिर्यस्याः सा वृद्धपत्नी वृद्धपतिर्वा। जीवतीति जीवः, पचाद्यच्। जीवः पतिरस्या इति जीवपत्नी जीवपतिर्वा।

(१५) **नित्यं सपत्न्यादिषु** ।४।१।३५॥

अर्थः— सपत्नी आदि शब्दों की सिद्धि के लिये इकार के स्थान पर पूर्वोक्त नकार आदेश नित्य हो जाता है। पूर्वसूत्र से विकल्प के प्राप्त होने पर इस सूत्र से नित्य विधान कर रहे हैं।

उदाहरण यथा—

समानः पतिरस्या इति सपत्नी[2] (समान पति वाली, सौत)। निपातन से 'समान' को 'स' आदेश हो जाता है।

इसीप्रकार—एकः पतिरस्या इति एकपत्नी। वीरपत्नी।

(१६) **नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च** ।४।१।५५॥

अर्थः—नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग—ये जो स्वाङ्ग-

---

१. **पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदि छन्दोऽनुवर्त्तिनी।**
गृहाश्रमसमं नास्ति यदि भार्या वशानुगा॥ (आप्टेकोष से उद्धृत)

२. **कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने**—(शाकुन्तल ४.१७)।

वाचक उपसर्जन शब्द, तदन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् हो जाता है। पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होता है।

उदाहरण यथा—

तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका।[1]
कृशोदरी, कृशोदरा।
बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा।[2]
सुजङ्घी, सुजङ्घा।
समदन्ती, समदन्ता।
चारुकर्णी, चारुकर्णा।
तीक्ष्णशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गा।

ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग—ये पाञ्च शब्द स्वाङ्गवाचक होते हुए भी संयोगोपध हैं, **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा इन से वैकल्पिक ङीष् प्राप्त न था अतः इन से विधान किया गया है। नासिका और उदर ये दो अनेकाच् स्वाङ्गवाची हैं, इन में **स्वाङ्गाच्चोप०** (१२६५) द्वारा प्राप्त वैकल्पिक ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) द्वारा निषेध होना था अतः इस सूत्र में इन का पुनर्विधान किया गया है।

प्रकृतसूत्र में 'च' के ग्रहण के कारण कुछ अन्य संयोगोपधों से भी वैकल्पिक ङीष् की प्रवृत्ति हो जाती है। यथा—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा, सुगात्री-सुगात्रा, रक्तकण्ठी-रक्तकण्ठा, कल्याणपुच्छी-कल्याणपुच्छा। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—**अङ्ग-गात्र-कण्ठेभ्य इति वक्तव्यम्** (वा०), **पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्** (वा०)।

कुण्डोध्नी, घटोध्नी आदि शब्द बहुत दूध देने वाली गाय के लिये प्रसिद्ध हैं। कुण्डमिव ऊधः[3] (आपीनम्) यस्याः सा कुण्डोध्नी (कुण्ड की तरह चड्डे=हवाने वाली गाय)। 'कुण्ड सुँ+ऊधस् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्य[पदा]र्थे** (९६६) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हो सुँब्लुक् करने से—कुण्डोधस्। अब **ऊधसोऽनँङ्** ([illegible]१३१)[4] सूत्र

---

१. तुङ्गे नासिके यस्याः सा तुङ्गनासिकी तुङ्गनासिका वा। यहां नासिका को बहुव्रीहि-समास में उपसर्जनह्रस्व हुआ है तथा 'तुङ्गा' पद को पुंवद्भाव। इसीप्रकार 'सुन्दर्यौ जङ्घे यस्याः सा सुजङ्घी सुजङ्घा वा' में उपसर्जनह्रस्व समझना चाहिये।

२. बिम्बमिव (बिम्बफलमिव) ओष्ठौ यस्याः सा बिम्बोष्ठी बिम्बोष्ठा वा। **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** (वा०) इस वार्त्तिकद्वारा यहां वैकल्पिक पररूप होता है। पक्ष में वृद्धि भी हो जाती है—बिम्बौष्ठी, बिम्बौष्ठा वा।

३. **ऊधस्तु क्लीबमापीनम्** इत्यमरः।

४. अर्थः—ऊधस्शब्दान्त बहुव्रीहिसमास में ऊधस् के सकार को अनँङ् आदेश हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

से ऊधस् के अन्त्य अल् सकार को समासान्त अनँङ् आदेश हो जाता है—कुण्डोध अनँङ् =कुण्डोध अन्=कुण्डोधन् (अतो गुणे से पररूप)। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

(१७) **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** ।४।१।२५॥

अर्थः—ऊधस् (हवाना, चड्डा) शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे बहुव्रीहिसमास से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

'कुण्डोधन्' के अन्त में **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार ऊधस् शब्द विद्यमान है और यह बहुव्रीहिसमास भी है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कुण्डोघ्नी'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—घट इव ऊधो यस्याः सा घटोघ्नी[2] गौः।

——:०:——

अभ्यास [२]

(१) निम्नलिखित गणसूत्रों तथा वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः। २. श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च। ३. नृनरयोर्वृद्धिश्च। ४. योपधप्रतिषेधे हय-गवय०। ५. मत्स्यस्य ङ्याम्। ६. पाणिगृहीती भार्यायाम्। ७. वनो न हश इति वक्तव्यम्।

(२) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. जातेरस्त्रीविषयाद्०। २. स्वाङ्गाच्चोप०। ३. ऊरूत्तरपदादौपम्ये। ४. संहितशफलक्षणवामादेश्च। ५. न क्रोडादिबह्वचः। ६. यूनस्तिः। ७. ऊङुतः। ८. इतो मनुष्यजातेः। ९. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। १०. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। ११. वनो र च। १२. अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्। १३. सख्यशिश्वीति भाषायाम्। १४. अन्यतो ङीष्। १५. नित्यं सपत्न्यादिषु। १६. दामहायनान्ताच्च। १७. मनः। १८. अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्। १९. नासिकोदरौष्ठ०। २०. पूर्वपदात्संज्ञायामगः। २१. नखमुखात्संज्ञायाम्। २२. पादोऽन्यतरस्याम्। २३. बहुव्रीहेरूधसो ङीष्। २४. केवलमामक०।

(३) निम्नलिखित युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—

१. शूद्री—शूद्रा। २. सुमुखी—सुमुखा। ३. शूर्पणखा—शूर्पनखी।

---

१. **भुवं कोष्णेन कुण्डोघ्नी मेध्येनावभृथादपि।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्त्तिना॥** (रघु० १.८४)

२. **अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः॥** (रघु० २.४९)

४. युवतिः—युवती । ५. पाणिगृहीती—पाणिगृहीता । ६. केवली—केवला । ७. समानी—समाना । ८. त्रिहायना—त्रिहायणी ९. नारी—नरी । १०. त्रिपदी—त्रिपादी ।

(४) व्याख्या करें—

[क] असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा ।

[ख] उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।

[ग] जातेः किम् ? मुण्डा ।

[घ] अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

[ङ] अयोपधात् किम् ? क्षत्रिया ।

[च] संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ।

[छ] अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका ।

(५) ङीप्, ङीष्, ङीन्—इन में अनुबन्धभेद के कारण रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(६) निम्नलिखित प्रातिपदिकों के स्त्रीलिङ्ग रूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. चतुष्पाद् । २. कोमलाङ्ग । ३. पारदृश्वन् । ४. बहुयज्वन् । ५. नर । ६. सीमन् । ७. कुण्डोधस् । ८. वामलोचन । ९. नृ । १०. उत्स । ११. तट । १२. सखि । १३. पतिमत् । १४. मामक[1] । १५. श्वन्[2] । १६. मघवन्[3] । १७. सुवक्त्र । १८. अगस्त्य । १९. सभापति ।

---

१. ममायमिति मामकः । **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्रद्वारा अस्मद् से अण्, **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से अस्मद् को 'ममक' सर्वादेश, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मामकः' प्रयोग निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में 'मामक' से टाप् कर **मामकनरकयोरुपसंख्यानम्** वार्त्तिक से ककार से पूर्व अकार को इत्व कर विभक्ति लाने से—मामिका । ममेयम्—मामिका ।

२. स्त्रीत्व की विवक्षा में श्वन् से **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय, **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) से वकार को उकार सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप (२५८) कर विभक्ति लाने से 'शुनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३. मघोनः स्त्री—मघोनी । मघवन् शब्द से स्त्रीत्व में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप्, **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) से वकार को सम्प्रसारण उकार, पूर्वरूप तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण कर विभक्ति लाने से—मघोनी (इन्द्र की पत्नी) । **मघवा बहुलम्** (२८८) द्वारा तृँत्वपक्ष में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् करने से 'मघवती' भी बनेगा ।

(७) अधोनिर्दिष्ट रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पङ्गूः । २. कुरूः । ३. दाक्षी । ४. वामोरूः । ५. ब्राह्मणी । ६. नारी । ७. मत्सी । ८. हयी । ९. श्वश्रूः । १०. करभोरूः । ११. शार्ङ्गरवी । १२. युवतिः । १३. बैदी । १४. अतिकेशी-अतिकेशा । १५. शूर्पणखा । १६. बह्वृची । १७. कल्याणक्रोडा । १८. कुण्डोध्नी । १९. अवावा (अवावरी) । २०. क्षत्रिया । २१. अशिश्वी । २२. अन्तर्वत्नी । २३. सपत्नी । २४. सुपदी । २५. बिम्बोष्ठी-बिम्बोष्ठा ।

(८) निम्नस्थ दो कारिकाओं की सोदाहरण व्याख्या करें—

(क) **अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।**
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम् ॥

(ख) **आकृतिग्रहणा जातिः लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।**
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

(९) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'सुस्वेदा' में स्वाङ्गलक्षण ङीष् क्यों नहीं होता ?

[ख] किन किन योपधों में जातिलक्षण ङीष् अनुमत है ?

[ग] बैदी में अजन्तत्वात् **टिड्ढाणञ्०** से ङीप् क्यों नहीं होता ?

[घ] 'हस्तिस्वाम्यूरुः' में ऊङ् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[ङ] संज्ञा होते हुए भी 'रघुनाथः' में **पूर्वपदात्०** से णत्व क्यों नहीं ?

[च] बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । **यूनस्तिः** द्वारा 'ति' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?

[छ] **यूनस्तिः** सूत्र को **तद्धिताः** के अधिकार में क्यों पढ़ा गया है ?

[ज] **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** में 'अगः' क्यों कहा गया है ?

[झ] यज्ञसंयोग के विना 'शूद्रस्य पत्नी' कैसे उपपन्न होता है ?

[ञ] ऊङन्तों से स्वाद्युत्पत्ति कैसे हो जाती है ?

[ट] पीवरोरूः; करभोपमोरूः—इन में ऊङ् का प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध ?

[ठ] जब 'नृ' से 'नारी' बन गया तो 'नर' से पुनः क्यों बनाते हैं ?

[ड] 'सुमुखा शाला' यहां स्वाङ्गलक्षण ङीष् क्यों नहीं होता ?

[ढ] 'आखु' से **ऊङुतः** द्वारा ऊङ् क्यों नहीं होता ?

[ण] पिपीलिका, मक्षिका आदियों में जातिलक्षण ङीष् क्यों नहीं हुआ ?

(१०) 'सुजघना' में जातिलक्षण ङीष् नहीं होता परन्तु 'कृशोदरी' में हो जाता है—इस वैषम्य का क्या कारण है ?

(११) मामक शब्द अण्प्रत्ययान्त है । स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'मामकी' क्यों नहीं बनता ? 'मामिका' क्यों बन जाता है ?[1]

---

१. 'मामकी' प्रयोग वेद में या संज्ञा में होता है । परन्तु लोक में **केवलमामक०** (४.१.३०) इस नियम के कारण ङीप् न होकर टाप् होता है ।

[लघु०] इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।।

यहां पर स्त्रीप्रत्ययों का प्रकरण समाप्त होता है ।

[लघु०] शास्त्रान्तरे[1] प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका । कृता वरदराजेन लघु-सिद्धान्त-कौमुदी ।।

अन्वयः—शास्त्रान्तरे प्रविष्टानाम् अप्रविष्टानां च बालानाम् उपकारिका (इयं) लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराजेन कृता (वेदितव्या) ।

अर्थः—चाहे दूसरे शास्त्रों में प्रवेश हुआ हो या न हुआ हो, बालकों को व्याकरण का बोध कराने में उपकारक यह लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराज (आचार्य) ने बनाई है ।

व्याख्या—'शास्त्रान्तरे प्रविष्टानाम्' का दूसरा छेद 'शास्त्रान्तरे+अप्रविष्टानाम्' भी यहां 'च' के बल से अभीष्ट है । 'बालानाम्' से अभिप्राय यहां दूध-पीते या अबोध बालकों से नहीं, अपितु व्याकरण से अनभिज्ञ छात्रों से है । ऐसे छात्र दो प्रकार के हो सकते हैं । (१) अन्यशास्त्रों में प्रविष्ट अर्थात् अन्य शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले तथा (२) अन्यशास्त्रों में अप्रविष्ट अर्थात् अन्य शास्त्रों का ज्ञान न रखने वाले । दोनों प्रकार के व्याकरणानभिज्ञ छात्रों को लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के माध्यम से व्याकरण-ज्ञानरूप लाभ पहुँचेगा—ऐसी वरदराजजी की मान्यता है ।

[लघु०] इति श्रीवरदराजकृता लघु-सिद्धान्त-कौमुदी समाप्ता ।।

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारताऽन्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईल-
खानाख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम. ए. साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभृता
वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां
स्त्रीप्रत्ययप्रकरणात्मकः षष्ठो
भागः पूर्त्तिमगात् ।।

---

१. अन्यत् शास्त्रम्—शास्त्रान्तरम् । मयूरव्यसकादित्वात् समासः । तस्मिन्= शास्त्रान्तरे ।

अथ परिशिष्टानि

[१] शुद्धाऽशुद्धबोधक-शतकम्

[२] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगताष्टाध्यायीसूत्र-तालिका

[३] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणान्तर्गतवार्तिकादि-तालिका

[४] उदाहरण-तालिका

[५] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः

[६] विशेष-द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[७] विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[८] स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि

[९] संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्

[१] परिशिष्टे--शुद्धाऽशुद्धबोधकशतकम्

[इस परिशिष्ट में विद्यार्थियों को स्त्रीप्रत्ययों के विषय में सावधान एवं चौकन्ना रखने के लिये शुद्धाऽशुद्धमिश्रित प्रायः स्वनिर्मित एक सौ पद्यखण्डों का समायोजन किया गया है। इन में स्त्रीप्रत्ययविषयक विवेच्य पदों को सूक्ष्म टाइप में दर्शाया गया है। प्रत्येक पद्यखण्ड के नीचे विवेच्य पदों का साधुत्व वा असाधुत्व सहेतुक सरल भाषा में खोल कर समझाया गया है। विद्यार्थियों को इस परिशिष्ट के अभ्यास से अन्यत्र भी अशुद्धियों के पकड़ने में महती निपुणता प्राप्त होगी।]

—※—

(१) प्राणानामीश्वरी मे त्वं जीवताच्छरदः शतम् ॥

विवेचन—ईश् धातु से **स्थेश-भास-पिस-कसो वरच्** (३.२.१७५) सूत्रद्वारा वरच् प्रत्यय करने पर 'ईश्वर' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व में अदन्तलक्षण टाप् करने से 'ईश्वरा' होना चाहिये। यदि यहां औणादिक वरट् (उणा० ५.५७) प्रत्यय मानें तो **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से टित्त्वलक्षण ङीप् हो कर उपर्युक्त प्रयोग भी शुद्ध कहा जा सकता है।

(२) नश्वरां सम्पदं प्राप्य को धन्यो भुवि मानवः ॥

विवेचन—नश्धातु से **इण्-नश्-जि-सर्त्तिभ्यः क्वरप्** (३.२.१६३) सूत्रद्वारा ताच्छीलिक क्वरप् प्रत्यय करने पर 'नश्वर' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने से 'नश्वरी' प्रयोग बनेगा। अतः यहां 'नश्वराम्' के स्थान पर 'नश्वरीम्' होना चाहिये।

(३) इयं शैलिर्महाक्लिष्टा शब्दजालसमन्विता ॥

विवेचन—शीले भवा शैली, शीलादागता वा शैली। शीलशब्द से अण् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् करने पर 'शैली' प्रयोग होना चाहिये।

(४) भक्तिरस्तु समानी मे देवयोरुभयोरपि ॥

विवेचन—**केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽऽर्य-कृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च** (४.१.३०) इस सूत्र से संज्ञा या वेद में ही ङीप् का विधान किया गया है, अतः लोक में अन्यत्र टाप् ही होता है। इस प्रकार यहां 'समाना' होना चाहिये, 'समानी' नहीं।

(५) समदृष्टेर्भवन्त्येव सर्वाः सुखमया दिशाः ॥

विवेचन—सुखमयशब्द मयट्प्रत्ययान्त है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से टित्त्वलक्षण ङीप् हो कर 'सुखमयी' शब्द का प्रथमाबहुवचन 'सुखमय्यः' प्रयोग होना

चाहिये । दिश्शब्द से भागुरिमत के अनुसार[1] आप् (आ) हो कर 'दिशाः' शुद्ध प्रयोग है ।

(६) **दशामेतादृशां प्राप्य निःस्वो याति यमालयम् ॥**

विवेचन—'एतादृश' शब्द **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** (३४७) सूत्रद्वारा कञ्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है । अतः स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'एतादृशीम्' होना चाहिये ।

(७) **मूर्तिर्भयङ्करी तस्य प्रत्यहं समजायत ॥**

विवेचन—'भयङ्कर' शब्द **मेघर्तिभयेषु कृञः** (३.२.४३) द्वारा खच्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है, अतः ङीप् की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'भयङ्करा' प्रयोग होना चाहिये ।

(८) **इयं शूर्पनखी कन्याऽत्येति शूर्पणखामपि ॥**

विवेचन—'शूर्प इव नखा यस्याः' इस यौगिक अर्थ में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद-संयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा विकल्प से ङीष् हो (पक्ष में टाप्) कर 'शूर्पनखी' या 'शूर्पनखा' दो रूप सिद्ध होते हैं । परन्तु जब यह संज्ञा हो तब **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) से ङीष् का निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है । किञ्च **पूर्वपदा-त्संज्ञायामगः** (१२६८) से नकार को णकार भी संज्ञा-अवस्था में हो जाता है—शूर्पणखा (रावण की बहन का नाम) ।

(९) **तावकीयं मतिस्तात विपरीता तु मामकी ॥**

विवेचन—तवायं तावकः, ममायं मामकः । एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद्

---

१. जैसाकि कहा है—

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

भागुरि आचार्य कुछेक हलन्तस्त्रीलिङ्गों से भी आप् (आ) प्रत्यय की उत्पत्ति मानते हैं । यथा—

वाच् (वाणी)	भागुरिमते—वाच् + आ (आप्) = वाचा ।
निश् (रात्रि)	भागुरिमते—निश् + आ (आप्) = निशा ।
दिश् (दिशा)	भागुरिमते—दिश् + आ (आप्) = दिशा ।

इसीप्रकार—क्षुध्—क्षुधा; गिर्—गिरा; तृष्—तृषा; रुज्—रुजा; मुद्—मुदा; प्रतिपद्—प्रतिपदा; वीरुध्—वीरुधा; दृश्—दृशा; शुच्—शुचा; रुष्—रुषा; विपद्—विपदा; आपद्—आपदा; रुच्—रुचा; मृद्—मृदा; त्वच्—त्वचा; ऋच्—ऋचा; त्विष्—त्विषा; इत्यादि ।

इस मत का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ अव्ययप्रकरण के अन्त में किया जा चुका है वहीं देखें ।

शब्दों से शैषिक अर्थों में अण् प्रत्यय हो कर **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से उन को क्रमशः तवक और ममक आदेश कर आदिवृद्धि आदि कार्य करने से 'तावकः, मामकः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण तावक से ङीप् हो 'तावकी' रूप सिद्ध हो जाता है। मामक शब्द भी यद्यपि अणन्त है तथापि **केवल-मामक-भागधेय०** (४.१.३०) इस सूत्रद्वारा संज्ञा और वेद में ही ङीप्-विधान के नियम के कारण अन्यत्र ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। तब **मामकनरकयोरुप-संख्यानम्** इस वार्त्तिक से ककार से पूर्व अत् को इकार आदेश हो 'मामिका' प्रयोग सिद्ध होता है। अतः यहां 'मामकी' के स्थान पर 'मामिका' होना चाहिये। 'तावकी' प्रयोग शुद्ध है।

(१०) शूद्रा-शूद्री-महाशूद्री-**शब्दतत्त्वं निरूपय** ॥

विवेचन—'शूद्र' शब्द जातिवाचक है अतः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयाद्०** (१२६९) से ङीष् प्राप्त होता है। परन्तु अजादिगण में पठित **शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः** इस गणसूत्र के कारण उस का बाध हो कर टाप् हो जाता है—शूद्रा (शूद्रजाति की औरत)। गणसूत्र में 'अमहत्पूर्वा' कहा गया है अतः महत्शब्द पूर्व में होगा तो टाप् न हो कर जातिलक्षण ङीष् ही होगा—महाशूद्री (अहीरजाति की औरत)। परन्तु पुंयोग में तो **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् होगा ही—शूद्रस्य भार्या शूद्री (शूद्र की पत्नी)।

(११) तरुणा रूपवन्ती **चेत्सादरं वीक्ष्यतेऽखिलैः** ॥

विवेचन—तरुणशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् हो कर 'तरुणी' प्रयोग सिद्ध होता है। 'रूपवत्' शब्द मतुंप्रत्ययान्त होने से उगित् है अतः **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् हो कर 'रूपवती' प्रयोग बनता है, नुंम् का आगम किसी तरह प्राप्त नहीं।

(१२) **युवानो बहवो यस्यां ज्ञेया बहुयुवा पुरी** ।

विवेचन—यूनस्तिः (१२७६) सूत्र **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः यहां बहुव्रीहिसमास में युवन् शब्द के उपसर्जन होने के कारण स्त्रीत्व में 'ति' प्रत्यय नहीं हुआ।

(१३) शाक्तीकया **तया देव्या रिपुसैन्यं पराजितम्** ॥

विवेचन—'शाक्तीकया' के स्थान पर 'शाक्तीक्या' होना चाहिये। 'शक्तिः प्रहरणमस्याः' इस अर्थ में 'शक्ति' शब्द से **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५९) सूत्रद्वारा ईकक् प्रत्यय हो कर 'शाक्तीक' शब्द निष्पन्न होता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् करने पर 'शाक्तीकी' प्रयोग बनता है।

(१४) **पाण्डुपत्रसमाच्छन्ना** पाण्ड्वी **भूमिरजायत** ॥

विवेचन—'पाण्ड्वी' अशुद्ध है, 'पाण्डुः' होना चाहिये। पाण्डुशब्द उदन्त गुण-वाचक है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) से प्राप्त ङीष् का

स्वरुसंयोगोपधान्न (वा०) वार्त्तिक से निषेध हो जाता है। अदन्त न होने से टाप् भी नहीं होता।

(१५) भूपालिक्या **तया दत्तं भृत्याय विपुलं धनम्** ॥

विवेचन—'भूपालिक्या' के स्थान पर 'भूपालिकया' होना चाहिये। भूपालक-शब्द से स्त्रीत्व में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का **पालकान्तान्न** (वा० १०२) वार्त्तिकद्वारा निषेध हो जाता है। तब अदन्तलक्षण टाप् हो कर **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात०** (१२६२) सूत्र से इत्व करने पर 'भूपालिका' शब्द उपपन्न होता है। भूपालकस्य स्त्री भूपालिका, तया = भूपालिकया।

(१६) **सम्मान्या** विदुषा **नारी धर्माऽधर्मं विजानती** ॥

विवेचन—यदि यहां नारी का वैदुष्य विवक्षित हो तो वसुँप्रत्ययान्त विद्वस्-शब्द से स्त्रीत्व में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् प्रत्यय कर सम्प्रसारण आदि करने से 'विदुषी' बनना चाहिये। परन्तु पुरुष के वैदुष्य के विवक्षित होने पर यथोक्त प्रयोग तृतीयान्ततया ठीक ही मानना चाहिये।

(१७) हयया **यात्ययं दूतो बहुदूरतरं वनम्** ॥

विवेचन—'हय' शब्द गौरादिगण में पढ़ा गया है अतः **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् हो कर 'हयी' शब्द बन कर तृतीया के एकवचन में 'हय्या' बनेगा। अथवा—**योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्याणामप्रतिषेधः** (वा० १११) इस वार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से जातिलक्षण ङीष् हो कर 'हयी' बनना चाहिये। तृतीयैकवचन में 'हय्या' बनेगा।

(१८) तादृक्षीं **सम्पदं प्राप्य मानवः को न गर्वितः ?**

विवेचन—यहां 'तादृक्षीम्' के स्थान पर 'तादृक्षाम्' होना चाहिये। तादृक्ष-शब्द **दृशेः क्सश्च वक्तव्यः** (वा०) वार्त्तिकद्वारा क्सप्रत्ययान्त निष्पन्न होता है, इसे कञ्प्रत्ययान्त समझना भूल है। अतः यहां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

(१९) कोकिलीकूजितं **श्रुत्वा हृष्यन्ति सर्वमानवाः** ॥

विवेचन—'कोकिल' शब्द अजादिगण में पढ़ा गया है अतः जातिलक्षण ङीष् का बाध हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो जायेगा—कोकिलाकूजितम्।

(२०) **नयत्यशिशुरप्येषा कालं शान्तेन चेतसा** ॥

विवेचन—'अविद्यमानः शिशुरस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में 'अशिशु' बन कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **सख्यशिश्वीति भाषायाम्** (४.१.६२) से ङीषन्त 'अशिश्वी' निपातन किया जाता है। अतः यहां 'अशिशुः' के स्थान पर 'अशिश्वी' प्रयुक्त करना चाहिये। अशिश्वी = सन्ततिहीना स्त्री।

(२१) **भार्या** पाणिगृहीत्येव **शस्यते सर्वबन्धुभिः।**
सैव पाणिगृहीता **चेल्लोके भवति निन्दिता** ॥

विवेचन—पाणिर्गृहीतोऽस्या (यथाविधि) इति बहुव्रीहिः। **पाणिगृहीती भार्यायाम्** (वा०) इस वार्त्तिक से ङीषन्त 'पाणिगृहीती' शब्द निपातित किया जाता है। जिस का विधिवत् पाणिग्रहण नहीं हुआ होता वह 'पाणिगृहीता' कहाती है।

(२२) **धत्ते चन्द्राननी गर्भं राजवंशविवृद्धये ॥**

विवेचन—'चन्द्राननी' के स्थान पर 'चन्द्रानना' होना चाहिये। **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से प्राप्त स्वाङ्गलक्षण ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो जाता है। तब अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'चन्द्रानना' प्रयोग उपपन्न होता है।

(२३) आखवी **गृहाद्बहिष्कार्या ग्रन्थागाराद्विशेषतः ॥**

विवेचन—आखु (चूहा) शब्द उदन्त होता हुआ भी गुणवचन नहीं अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) द्वारा ङीष् प्राप्त नहीं होता। इसलिये यहां स्त्रीलिङ्ग में भी 'आखुः' ही रहेगा।

(२४) **सर्वाऽऽवश्यकता ज्ञाप्या त्यक्तलज्जेन श्रीमता ॥**

विवेचन—अवश्यम्भावः—आवश्यकम्। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) सूत्रद्वारा मनोज्ञाद्यन्तर्गत होने के कारण 'अवश्यम्' अव्यय से भाव में वुञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, वु को अक आदेश तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टि का लोप कर 'आवश्यकम्' प्रयोग उपपन्न होता है। वुञ् द्वारा भाव के उक्त होने पर दुबारा त्व-तल् का प्रयोग अनुचित है। आवश्यकम् अस्त्यस्येति आवश्यकम्, यहां मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) द्वारा अच् प्रत्यय हुआ है। आवश्यकम् = अवश्य होने वाला कार्य, वस्तु आदि। यही यहां विवक्षित है। अतः यहां 'सर्वमावश्यकं ज्ञाप्यम्' ऐसा लिखना उचित है।

(२५) बिम्बोष्ठी चारुकर्णा **या समदन्ती** कृशोदरी।
सुजङ्घी **चापि चेल्लोके नूनं रूपवती हि सा ॥**

विवेचन—**नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) सूत्र से वैकल्पिक ङीष् का विधान होता है, पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् भी होगा। यथा—तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका; कृशोदरी-कृशोदरा; बिम्बोष्ठी-बिम्बोष्ठा; सुजङ्घी-सुजङ्घा; समदन्ती-समदन्ता; चारुकर्णी-चारुकर्णा; तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा। सूत्रगत चकार से कुछ अन्य स्थानों पर भी—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा; सुगात्री-सुगात्रा; रक्तकण्ठी-रक्तकण्ठा। अतः उपर्युक्त प्रयोग शुद्ध हैं।

(२६) सुशृङ्गी **शस्यते धेनुस्तीक्ष्णशृङ्गा तु निन्दिता ॥**

विवेचन—पूर्वोक्तसूत्र में शृङ्ग शब्द का भी पाठ है अतः ङीष् का वैकल्पिक विधान होता है, पक्ष में टाप् भी होगा। सुशृङ्गी-सुशृङ्गा, तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा।

(२७) **पित्रा** तुल्यतमी **रूपे** सदृशी **न गुणेष्वियम् ॥**

विवेचन—'सदृश' शब्द **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** (३४७) सूत्रस्थ **समा-**

नाऽन्ययोश्चेति वाच्यम् (वा०) वार्तिकद्वारा कञ्प्रत्ययान्त सिद्ध किया जाता है। **दृग्दृशवतुषु** (६.३.८८) द्वारा 'समान' को 'स' आदेश हो जाता है—समानः पश्यतीति सदृशः, कर्मकर्तरि प्रयोगः। समानत्वेन ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः। स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'सदृशी' रूप बनता है। परन्तु 'तुल्यतम' शब्द तमप्प्रत्ययान्त है, इस में किसी तरह ङीप् प्राप्त नहीं, टाप् हो कर 'तुल्यतमा' बनेगा।

(२८) **उत्सवे च विवाहादौ नारी कार्या** पुरःसरा ॥

विवेचन—'पुरःसर' शब्द **पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः** (३.२.१८) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त सिद्ध होता है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण ङीप् हो कर 'पुरःसरी' बनना चाहिये।

(२९) कन्ये ! चिरायुषी **भूयाः सुखं च प्राप्नुयाः सदा** ॥

विवेचन—'कन्य' शब्द से **वयसि प्रथमे** (१२५६) द्वारा स्त्रीत्व में ङीप् प्राप्त होता है परन्तु **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) इस ज्ञापक के आधार पर टाप् हो जाता है। 'चिरायुष्' शब्द अदन्त नहीं हलन्त है। इस से कोई स्त्रीप्रत्यय प्राप्त नहीं होता अतः यहां 'चिरायुः' होना चाहिये।

(३०) सुन्दरेयं **कथा सर्वैर्वारं वारं निपीयताम्** ॥

विवेचन—'सुन्दर' शब्द गौरादिगण में पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) से ङीष् प्रत्यय हो कर 'सुन्दरी' प्रयोग होना चाहिये।

(३१) शैलया **सर्वतोषिण्या पुनरूचे नृणां वरः** ॥

विवेचन—शीलादागता शीले भवा वा शैली। शीलशब्द से अण्प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् करने से 'शैली' शब्द निष्पन्न होता है। अतः यहां तृतीयैकवचन में 'शैल्या' बनना चाहिये।

(३२) **इयं त्रिंशत्तमा नौका पारं याता महोदधेः** ॥

विवेचन—'त्रिंशत्' शब्द से डट् (११७५) प्रत्यय हो कर तमट् (५.२.५६) का आगम करने से 'त्रिंशत्तम' शब्द बनता है। अतः टित्त्व के कारण स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय हो कर 'त्रिंशत्तमी' बनना चाहिये।

(३३) **नैजां शक्ति समालोच्य कार्यारम्भपरो भवेत्** ॥

विवेचन—निजशब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'नैज' शब्द निष्पन्न होता है। अतः स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'नैजी' बनता है। द्वितीया के एकवचन में यहां 'नैजीम्' प्रयोग होना चाहिये।

(३४) नूतनीयं **प्रथा मित्र ! स्वमूत्रं पीयते बुधैः** ॥

विवेचन—**नवस्य नू आदेशः, त्नप्-तनप्-खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः** (वा०) इस वार्तिक से नूत्न, नूतन और नवीन ये तीन शब्द निष्पन्न होते हैं। स्त्रीत्व में इन से ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं, अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर यहां 'नूतनेयम्' प्रयोग होना चाहिये।

(३५) **सुखाय** सम्पदा **दैवी** विपदायै **मताऽऽसुरी ॥**

विवेचन—सम्पद् और विपद् दोनों हलन्त स्त्रीलिङ्ग हैं। **आपं चैव हलन्तानाम्**० इस भागुरिमतानुसार इन से आप् (आ) प्रत्यय हो कर 'सम्पदा, विपदा' शब्द बनते हैं। कुछ लोग ऐसे प्रयोगों को भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण मानते हैं।

(३६) आर्षेयं **विमला वाणी सर्वभूतहिते रता ॥**

विवेचन—ऋषीणामियम् आर्षी। **तस्येदम्** (११०६) के अर्थ में ऋषिशब्द से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्**० (१२५१) से ङीप् करने से 'आर्षी' प्रयोग सिद्ध होता है। 'आर्षा' अशुद्ध है।

(३७) कामुकी-कामुका-**मध्ये को भेदः प्रतिपाद्यताम् ॥**

विवेचन—जानपद-कुण्ड-गोण० (४.१.४२) सूत्र से मैथुनेच्छावती स्त्री की वाच्यता में 'कामुकी' तथा अन्यत्र (केवल अभिलाषा करने वाली) 'कामुका' का प्रयोग होता है। कामुकीशब्द ङीषन्त तथा कामुकाशब्द टाबन्त होता है।

(३८) **नहि वन्ध्या विजानाति** गुर्वीं **प्रसववेदनाम् ॥**

विवेचन—गुरुशब्द उदन्त गुणवाचक है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) से वैकल्पिक ङीष् हो कर यण् करने से 'गुर्वी' बन कर द्वितीया के एकवचन में 'गुर्वीम्' निष्पन्न होता है। पक्ष में 'गुरुम्' भी होता है।

(३९) पद्धतीं **स्वां परित्यज्य यथाशास्त्रं समाश्रय ॥**

विवेचन—'पद्धति' शब्द बह्वादिगण में पढ़ा गया है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) से वैकल्पिक ङीष् हो कर 'पद्धती-पद्धतिः' दो रूप बनते हैं।

(४०) क्षीरपीणां सुरापीभि**र्मैत्री प्रायोऽस्ति** दुर्लभी ॥

विवेचन—'क्षीरप' शब्द **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) द्वारा कप्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर स्त्रीत्व में 'क्षीरपाणाम्' होना चाहिये। 'सुराप' शब्द **गापोष्टक्** (३.२.८) तथा **सुरासीध्वोरिति वक्तव्यम्** (वा०) द्वारा टक्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्**० (१२५१) से ङीप् हो कर स्त्रीत्व में 'सुरापीभिः' का प्रयोग युक्त है। 'दुर्लभ' शब्द **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्** (८७६) सूत्र से खल्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः ङीप्-ङीष्-ङीन् किसी का विषय न होने के कारण अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'दुर्लभा' बनना चाहिये।

(४१) **अपी**दानीन्तना **भाषाः संग्राह्या भूतिमिच्छता ॥**

विवेचन—'इदानीम्' अव्यय से **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्युल् प्रत्यय तथा तुँट् का आगम करने पर 'इदानीन्तन' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्**० (१२५१) द्वारा ङीप् करने पर द्वितीया के बहुवचन में 'इदानीन्तनीः' होना चाहिये।

(४२) **फला**भिलाषां **परिहाय नित्यं कुर्वीत कर्माणि गृहे स्थितोऽपि ॥**

विवेचन—'अभिलाष' शब्द घञन्त है। **घञबन्तः** इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र के

अनुसार घञन्त पुंलिङ्ग हुआ करते हैं। अतः यहां 'फलाभिलाषम्' होना चाहिये।

(४३) **सद्यो** बलहरी **नारी सद्यो बलकरं पयः ॥**

विवेचन—बलं हरतीति बलहरा नारी। **हरतेरनुद्यमनेऽच्** (३.२.६) सूत्र से अच्प्रत्ययान्त बलहर शब्द से स्त्रीत्व में अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'बलहरा' बनना चाहिये।

(४४) त्रिसूत्री**यं दृढा रज्जुः सर्वभारसहा मता ॥**

विवेचन—त्रीणि सूत्राणि यस्याः सा त्रिसूत्रा। बहुव्रीहिसमास में ङीप्-ङीष्-ङीन् की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् हो जायेगा।

(४५) **वेदान्तस्य समध्येया** चतुःसूत्री **प्रयत्नतः ॥**

विवेचन—चतुर्णां सूत्राणां समाहारश्चतुःसूत्री। द्विगुसमास में **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वचन से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) से ङीप् हो जाता है।

(४६) रुद्राणी **रुद्रभार्येति प्रक्रिया व्याकृतेः कथम् ?**

विवेचन—रुद्रस्य भार्या रुद्राणी। **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) सूत्र से 'रुद्र' को आनुंक् का आगम तथा ङीष् प्रत्यय करने से 'रुद्राणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

(४७) **अगस्त्यस्त्री** अगस्तीति **व्याकृत्या प्रतिपाद्यताम् ॥**

विवेचन—अगस्त्यस्य भार्या अगस्ती। अगस्त्यशब्द से **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा **सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्याञ्च** (वा० १०४) इस वार्त्तिक से यकार का भी लोप करने पर 'अगस्ती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(४८) दर्वी रात्री तमी श्रोणी खनी भूमी **तथाऽवनी।**
व्याकृतेर्वचसा केन ङीषन्ता वा स्मृता अमी ॥

विवेचन—**बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रस्थ बह्वादिगणान्तर्गत **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** इस गणसूत्र से वैकल्पिक ङीष् कर भसंज्ञक इकार का लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। पक्ष में—दर्विः, रात्रिः, तमिः, श्रोणिः, खनिः, भूमिः, अवनिः—ये रूप भी बनेंगे।

(४९) **लोके** लावणिका **योषिन्निन्दनीया मता परम् ॥**

विवेचन—'लवणं पण्यमस्याः' इस अर्थ में **लवणाट्ठञ्** (४.४.५२) सूत्र से ठञ्, आदिवृद्धि तथा ठकार को इक आदेश हो कर 'लावणिक' बना। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय करने पर 'लावणिकी' प्रयोग बनना चाहिये।

(५०) अष्टाध्यायी **जगन्माताऽमरकोषो जगत्पिता।**
भट्टिकाव्यं गणेशश्च त्रयीयं **सुखदाऽस्तु** वः ॥

विवेचन—अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी। **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वार्त्तिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) सूत्र

से ङीप् हो कर 'अष्टाध्यायी' प्रयोग सिद्ध होता है। त्रयोऽवयवा अस्या सा त्रयी (पङ्क्तिः)। 'त्रि' शब्द से **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) से तयप् प्रत्यय हो कर **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (११७३) द्वारा उसे अयच् सर्वादेश करने से 'त्रय' शब्द निष्पन्न होता है। स्थानिवद्भाव द्वारा इसे भी तयप्प्रत्ययान्त मान लेने से स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो कर 'त्रयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(५१) **नित्ययाचनशीलेयं वृत्तिर्लघुतरी तृणात्** ॥

विवेचन – 'लघुतर' शब्द तरप्प्रत्ययान्त है अतः स्त्रीत्व में इस से परे ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्राप्त नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् करने से 'लघुतरा' होना चाहिये।

(५२) पङ्गुः कुब्जाऽपि वामोरूर्धन्या **सा चेत्पतिप्रिया** ॥

विवेचन—स्त्रीत्व में पङ्गुशब्द से **पङ्गोश्च** (१२७२) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ करने से 'पङ्गूः' बनना चाहिये। इसीप्रकार **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) द्वारा 'वामोरु' से स्त्रीत्व में ऊङ् हो 'वामोरूः' बनेगा। कुब्जशब्द गुणवचन होता हुआ भी उदन्त नहीं अतः इस से **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) द्वारा ङीष् नहीं होता, अदन्तलक्षण टाप् ही होता है—कुब्जा।

(५३) भयानिक्या **तया शक्त्या हतोऽसौ पुरुषाधमः** ॥

विवेचन—'भयानिक्या' अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'भयानकया' होना चाहिये। 'भी' धातु से **आनकः शीभियः** (उणा० ३.८२) सूत्रद्वारा औणादिक आनकप्रत्यय करने पर 'भयानक' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से अदन्तलक्षण टाप् हो **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) द्वारा प्राप्त इत्व का **क्षिपकादीनां च** (वा०) वार्तिक से निषेध हो जाता है।

(५४) नरी-नारी-**द्वयोर्मध्ये भेदो व्याक्रियते कथम्** ?

विवेचन—नरस्य स्त्री नरी। 'नर' शब्द से पुंयोग में यहां ङीष् हुआ है। जातिवाच्य हो तो **नृनरयोर्वृद्धिश्च** (गणसूत्र) द्वारा ङीन् + वृद्धि करने से 'नारी' बनेगा।

(५५) दुहित्री **पुत्रवत्पाल्या शिक्षणीया तथैव च** ॥

विवेचन—'दुहित्री' के स्थान पर 'दुहिता' होना चाहिये। दुहितृशब्द स्वस्रादियों में पठित है अतः ऋदन्तलक्षण ङीप् का **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (२३३) से निषेध हो जाता है।

(५६) मूषिकी **परिहर्त्तव्या धान्यागाराद् विपश्चिता** ॥

विवेचन—मूषिकशब्द अजादिगण में पढ़ा गया है अतः जातिलक्षण ङीष् (१२६६) का बाध कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् करने पर 'मूषिका' बनना चाहिये।

(५७) **कथां स्त्रैणां त्यजेन्नित्यं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः** ॥

विवेचन—स्त्रीशब्द से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा नञ्

प्रत्यय करने पर 'स्त्रैण' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्-ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) वार्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'स्त्रैणी' प्रयोग बनता है। अतः यहां 'स्त्रैणाम्' के स्थान पर 'स्त्रैणीम्' होना चाहिये।

(५८) **रम्येयं** सुभुजी **मूर्त्ती राजते गिरिसंश्रिता ॥**

विवेचन—'भुज' शब्द क्रोडादिगण में पढ़ा गया है अतः स्वाङ्गलक्षण ङीष् (१२६५) का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो कर टाप् करने से 'सुभुजा' बनना चाहिये।

(५९) ऐन्द्राया **नाथ आदित्य उदेति प्रत्यहं दिवि ॥**

विवेचन—इन्द्रो देवताऽस्या इति ऐन्द्री (पूर्वा दिक्)। **साऽस्य देवता** (१०४१) के अर्थ में इन्द्रशब्द से तद्धित अण् प्रत्यय करने से 'ऐन्द्र' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'ऐन्द्री' बनता है। अतः यहां 'ऐन्द्र्याः' प्रयोग होना चाहिये।

(६०) **भार्या चेद्** भर्तृदेवी **स्यात् प्राप्तं पत्या न किं भुवि ?**

विवेचन—'भर्त्ता देवो यस्याः' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास की विवक्षा में पचादियों में टित् पढ़े गये भी देवशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् नहीं होता कारण कि टित् यहां उपसर्जन है। उस सूत्र में **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) का अनुवर्त्तन होता है। इसलिये यहां अदन्तलक्षण टाप् कर 'भर्तृदेवा' प्रयोग होना चाहिये।

(६१) **आचचक्षे नृपो वाचं** नमस्कारपुरःसरीम् ॥

विवेचन—'पुरःसर' शब्द **पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः** (३.२.१८) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त निष्पन्न होता है। 'नमस्कारः पुरःसरो यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में टप्रत्ययान्त पुरःसर-शब्द के उपसर्जन होने के कारण टित्त्वलक्षण ङीप् नहीं हो सकता, अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'नमस्कारपुरःसराम्' प्रयोग होगा।

(६२) **संसर्गो** वामलोचन्यास्**तपो हन्ति मुनेरपि ॥**

विवेचन—वामे (सुन्दरे) लोचने यस्याः सा वामलोचना। यहां बहुव्रीहिसमास में स्वाङ्गलक्षण वैकल्पिक ङीष् प्राप्त होता था परन्तु **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से उस का निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है—वामलोचना। अतः 'वामलोचन्याः' के स्थान पर 'वामलोचनायाः' होना चाहिये।

(६३) हेयाऽनावश्यकी **चिन्ता भूपे शासति धार्मिके ॥**

विवेचन—अवश्यम्भावः—आवश्यकम्। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) सूत्रद्वारा मनोज्ञाद्यन्तर्गत होने के कारण 'अवश्यम्' अव्यय से भाव में वुञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, वु को अक आदेश तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टि का लोप कर 'आवश्यकम्' प्रयोग उत्पन्न होता है। आवश्यकम् अस्त्यस्येति आवश्यकम्, यहां मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) द्वारा अच् प्रत्यय किया गया है। इस से स्त्रीत्व की

विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप् हो कर **प्रत्ययस्थात् कात्०** (१२६२) द्वारा ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश करने पर 'आवश्यिका' बनना चाहिये। कुछ वैयाकरण गौरादिगण को आकृतिगण मान कर यहां ङीष् प्रत्यय विधान कर 'आवश्यकी' रूप को भी शुद्ध मानते हैं। (मनोज्ञादिसूत्रे स्पष्टञ्चेदं बृहच्छब्देन्दुशेखरे)।

(६४) **नाथहीना विनङ्क्ष्यन्ति सर्वास्तेऽनुचराः स्त्रियः ॥**

विवेचन—अनुचरतीति अनुचरी। पचादियों में 'चरट्' इस निर्देश के कारण 'अनुचर' से स्त्रीत्व में टित्त्वलक्षण ङीप् के कारण 'अनुचरी' बनेगा। अतः यहां 'अनुचर्यः' होना चाहिये।

(६५) **तदमन्दरसस्यन्दमुन्दरेयं निपीयताम्।**
श्रोत्रशुक्तिपुटैः स्पष्टा साङ्गराजतरङ्गिणी ॥ (राजतरङ्गिणी १.२४)

विवेचन—'सुन्दर' शब्द का गौरादियों में पाठ आया है अतः **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् हो कर 'सुन्दरी' होना चाहिये।

(६६) **वीराश्चेत् पतयो यासां ता वीरपतयो मताः ॥**

विवेचन—'वीराः पतयो यासाम्' इस बहुव्रीहिसमास में **नित्यं सपत्न्यादिषु** (४.१.३५) सूत्रद्वारा पति के इकार को नकार आदेश तथा ङीप् प्रत्यय करने पर 'वीरपत्नी' बनता है। अतः यहां 'वीरपत्न्यः' होना चाहिये।

(६७) **किं स्यात् सूर्याऽथवा सूरी सूर्यपत्न्यां विविच्यताम् ॥**

विवेचन—**सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) इस वार्तिक से सूर्य की देवता भार्या वाच्य होने पर 'सूर्या' बनता है। सूर्य की मानुषी भार्या अभिप्रेत हो तो **पुयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय हो कर 'सूरी' बनेगा। कुन्ती को सूर्य की मानुषी भार्या स्वीकार किया जाता है।

(६८) **पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य** सहोदरी।
शङ्खो रोदिति भिक्षार्थी फलं भाग्यानुसारतः ॥

विवेचन—'सहोदरी' के स्थान पर 'सहोदरा' होना चाहिये। तथाहि—'सह (समानम्) उदरं यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)[1] द्वारा 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होकर 'सोदर' या 'सहोदर' बनता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राप्त हुए स्वाङ्गलक्षण वैकल्पिक ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो जाता है। पुनः **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) से उस की प्राप्ति होती है, इस का भी **सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च** (४.१.५७)[2] से निषेध

1. **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)। अर्थः—उपसर्जन अर्थात् बहुव्रीहि के अवयव 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। सपुत्रः, सहपुत्रः।

2. **सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च** (४.१.५७)। अर्थः—जिस के पूर्व में सह, नञ् और विद्यमान शब्द हो तथा अन्त में उपसर्जन स्वाङ्गवाची शब्द हो तो ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय नहीं होता। यथा—सकेशा, अकेशा, विद्यमाननासिका।

हो जाता है। अब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् करने पर 'सोदरा' और 'सहोदरा' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

(६९) **समरूपाऽपि सोदर्यी शीलभिन्ना भवेदिह ॥**

विवेचन—'सोदर्यी' के स्थान पर 'सोदर्या' या 'समानोदर्या' होना चाहिये। तथाहि—यकारादि तद्धित प्रत्ययों की विवक्षामात्र में 'समानञ्च तद् उदरम्' इस कर्मधारयसमास में **विभाषोदरे** (६.३.८७)[1] सूत्र से समानशब्द के स्थान पर वैकल्पिक 'स' आदेश हो कर 'सोदर' और 'समानोदर' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं। अब 'समानोदर' शब्द से **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८)[2] सूत्र से यत्प्रत्यय तथा दूसरे 'सोदर' शब्द से **सोदराद् यः** (४.४.१०९)[3] सूत्र से यप्रत्यय हो कर 'समानोदर्य' तथा 'सोदर्य' ये दो प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। इन दोनों का अर्थ है—समान उदर में सोने वाला अर्थात् सगा भाई। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इन दोनों से ङीप् आदियों की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् होकर 'समानोदर्या' और 'सोदर्या' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

(७०) **स्वयमध्यापिका या स्त्री सोपाध्याया स्मृता बुधैः ॥**

विवेचन—'उपाध्यायस्य स्त्री' इस पुंयोग में **मातुलोपाध्याययोरानुँग् वा** (वा० १०८) वार्त्तिक से ङीष् तो नित्य पर आनुँक् आगम का विकल्प हो कर 'उपाध्यायानी' तथा 'उपाध्यायी' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। परन्तु जब कोई स्त्री स्वयम् अध्यापन करती है तब वहां ङीष् का विकल्प भाष्य में विधान किया गया है—उपाध्यायी, उपाध्याया। यहां आनुँक् नहीं होता।

(७१) **गिरिशस्य भवेद् भार्या** गिरिशा गिरिशीति **वा ?**

विवेचन—गिरिशस्य भार्या गिरिशी। पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् होगा। टाप् की प्राप्ति का ङीष् बाधक है।

(७२) **स च भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा** विशाला।

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

विवेचन—'विशाल' शब्द बह्वादिगण में पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा

---

१. **विभाषोदरे** (६.३.८७) **अर्थः**—यकारादिप्रत्यय की विवक्षा में उदरशब्द के परे रहते समानशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। यथा—सोदर्यः, समानोदर्यः।

२. **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८)। **अर्थः**—सप्तम्यन्त समर्थ समानोदरशब्द से शयित (शयन किया हुआ) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है तथा समानोदरशब्द का ओकार भी उदात्त हो जाता है। यथा—समाने उदरे शयितः समानोदर्यः।

३. **सोदराद् यः** (४.४.१०९)। **अर्थः**—सप्तम्यन्त समर्थ सोदरशब्द से शयित (शयन किया हुआ) अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। यथा—सोदरे शयितः सोदर्यः।

में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रद्वारा ङीष् का विकल्प होगा, पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होगा—विशाली, विशाला। परन्तु साहित्य में ङीषन्त प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

(७३) विकटीं **स्थितिमासाद्य नरो भाग्यानि निन्दति ॥**

विवेचन—विकटशब्द भी बह्वादिगण में पढ़ा गया है अतः पूर्ववत् ङीष् का विकल्प हो कर 'विकटी, विकटा' बनेंगे। इस के ङीषन्त प्रयोग भी अन्वेष्टव्य हैं।

(७४) **भ्रातः पश्य तडागेऽस्मिन् द्वे** मीने **क्रीडतो मिथः ॥**

विवेचन—मीनशब्द जातिवाचक होता हुआ भी साहित्य में स्त्रीलिङ्ग में दृष्टिगोचर नहीं होता। मत्स्यशब्द का स्त्रीलिङ्ग 'मत्सी' रूप ही प्रायः प्रयुक्त देखा जाता है। अतः यहां 'द्वे मत्स्यौ' कहना उचित होगा।

(७५) **सुकुमारा लता भाति पवनेरितपल्लवैः ॥**

विवेचन—स्त्रीप्रत्ययों में तदन्तविधि अनुमत है। अतः कुमारशब्द की तरह सुकुमारशब्द से भी **वयसि प्रथमे** (१२५६) द्वारा ङीप् होकर 'सुकुमारी' बनेगा। सुकुमारशब्द में प्रादिसमास है अतः कुमारशब्द की अनुपसर्जनता अक्षुण्ण है, इस से **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) इस अधिकार के साथ विरोध नहीं पड़ता। वयोवाचक कुमारशब्द कोमल अर्थ में उपचरित होता है।

(७६) **भोगप्रवृत्तिः खलु मानवानां** स्वाभाविकेति **प्रवदन्ति सन्तः ॥**

विवेचन—स्वभावाद् आगता स्वाभाविकी। स्वाभाविक शब्द ठक्प्रत्ययान्त है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् होगा टाप् नहीं।

(७७) **गिरः** क्षोभकराः **श्रुत्वा कस्य नो दूयते मनः ॥**

विवेचन—'क्षोभकर' शब्द **कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु** (७९४) द्वारा टप्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो कर 'क्षोभकरी' बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में 'क्षोभकरीः' प्रयोग होना चाहिये।

(७८) नानारूपधरी **माया कस्य नो मोहकारिणी ॥**

विवेचन—धरतीति धरः, पचाद्यच्। स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्, ङीष्, ङीन् कोई प्राप्त नहीं, अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'नानारूपधरा' होना चाहिये।

(७९) **प्राज्ञा-प्राज्ञीद्वयोर्मध्ये भेदाख्यानं निरूपय ॥**

विवेचन—प्रज्ञा (बुद्धिः) अस्त्यस्या इति प्राज्ञा। प्रज्ञाशब्द से मत्वर्थ में **प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) द्वारा ण (अ) प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि कर स्त्रीत्व में टाप् करने से 'प्राज्ञा' (बुद्धिमती) प्रयोग सिद्ध होता है। प्रपूर्वक ज्ञा धातु से **आतश्चोपसर्गे** (७८८) द्वारा कप्रत्यय करने पर 'प्रज्ञ' बना। प्रज्ञ एवं प्राज्ञः, स्वार्थ में अण्। इस 'प्राज्ञ' से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् करने

पर 'प्राज्ञी' प्रयोग सिद्ध होता है। अत एव अमरकोष में कहा है—**प्रज्ञा तु प्राज्ञी, प्राज्ञा तु धीमती।**

(८०) **कण्डूतिर्बाधते नित्यं दुष्टरक्तं नरं सदा ॥**

विवेचन—'कण्डूतिः' प्रयोग का साधुत्व चिन्त्य है, यहां क्तिन् प्राप्त नहीं। **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (७३०) से यक्प्रत्ययान्त 'कण्डूय' धातु से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा 'अ' प्रत्यय हो कर यक् के अकार का **अतो लोपः** (४७०) से लोप कर टाप् लाने से 'कण्डूया' बनेगा। सम्पदादियों में पाठ के कारण क्विँप् प्रत्यय कर अकार एवं यकार का लोप करने से 'कण्डूः' भी बनता है।[1]

(८१) **पावनेयं सरिद् गङ्गा निर्मली तापहारिणी ॥**

विवेचन—पावनशब्द ल्युडन्त है अतः टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो कर 'पावनी' रूप बनना चाहिये। 'निर्मली' अशुद्ध है, ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्राप्त नहीं, अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'निर्मला' बनेगा। 'तापहारिणी' ठीक है, यहां नान्तलक्षण ङीप् हुआ है।

(८२) **आत्मबुद्धिः प्रमाणा चेद् वृथा शास्त्रानुशीलनम् ॥**

विवेचन—प्रमाणशब्द नपुंसक के एकवचन में सदा नियत है। अतः वेदाः प्रमाणम् की तरह यहां भी 'प्रमाणम्' कहना चाहिये।

(८३) **परिक्रमा विधातव्या गिरिराजस्य सर्वतः ॥**

विवेचन—परिक्रमशब्द घञन्त है अतः पुंलिङ्ग में नियत है। इसलिये यहां 'परिक्रमो विधातव्यः' कहना चाहिये।

(८४) **चिरन्तना इमा रम्या मूर्त्तयो मृन्मया अपि ॥**

विवेचन—यहां पर 'चिरन्तन्यः' तथा 'मृन्मय्यः' प्रयोग करना चाहिये। 'चिरम्' अव्यय से ट्यु ल् प्रत्यय तथा तुँट् का आगम करने से 'चिरन्तन' शब्द उपपन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण इस से ङीप् प्रत्यय हो कर 'चिरन्तनी' बनता है। 'मृन्मय'[2] शब्द मयट्प्रत्ययान्त है अतः स्त्रीत्व में यहां भी टित्त्वात् ङीप् होगा।

---

१. परन्तु 'कण्डूति' का प्रयोग कई जगह देखा जाता है। यथा—

सुभग ! त्वत्कथाऽऽरम्भे कर्णे कण्डूतिलालसा।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साङ्गना ॥
(साहित्यदर्पण तृतीयपरिच्छेद)

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञव्याख्या में कण्डूयाशब्द की व्याख्या करते हुए 'कण्डूतिरपि' लिखा है।

२. 'मृद्+मय' में **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्त्तिक से दकार को नित्य अनुनासिक हो कर 'मृन्मय' बनता है। **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) से प्राप्त णत्व का पदान्त में **पदान्तस्य** (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है। अतः 'मृण्मय' लिखना अशुद्ध है।

(८५) पुरी निर्यादवी जाता देवदेवे दिवं गते ॥

विवेचन—'यादव' शब्द यद्यपि अण्प्रत्ययान्त है तथापि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा यहां ङीप् नहीं होता, क्योंकि **अनुपसर्जनात्** का अधिकार आ रहा है। बहुव्रीहिसमास के कारण 'यादव' यहां उपसर्जन है अनुपसर्जन नहीं। अतः टाप् हो कर 'निर्यादवा' होना चाहिये।

(८६) प्रियाः कतिपया लोके महाभाष्यस्य सूक्तयः ॥

विवेचन—कतिशब्द से अयच् प्रत्यय तथा पुंक् का आगम करने पर 'कतिपय' शब्द बनता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्-ङीष्-ङीन् की प्राप्ति न होने से टाप् हो जाता है। परन्तु शतपथब्राह्मण में **'कतिपयीर्गा ददाति'** ऐसा प्रयोग देखा जाता है, तो इस प्रयोग के कारण अयट् प्रत्यय की कल्पना करनी भी उचित प्रतीत होती है।

(८७) मा ते सहचरा भूयाद् दुःशीलोतरदायिका ॥

विवेचन—यहां 'सहचरा' के स्थान पर 'सहचरी' होना चाहिये। पचादियों में अच्प्रत्ययान्त चरशब्द 'चरट्' इस तरह टित् पढ़ा गया है अतः टित्त्वात् ङीप् हो कर चरतीति चरी बनेगा। पुनः इस का 'सह' के साथ सुँप्सुँपासमास हो कर 'सहचरी' निष्पन्न हो जायेगा। अथवा—सह चरतीति सहचरी, **भिक्षासेनादायेषु च** (३.२.१७) सूत्र में चकार के बल से सहशब्द के उपपद रहते भी 'चर्' धातु से टप्रत्यय करने से 'सहचरी' बन जायेगा। दोनों अवस्थाओं में टित्त्वान्ङीप् होगा। इसी तरह 'अनुचरी' के विषय में भी समझना चाहिये।

(८८) पापीयं नापिती वृद्धा दुष्टा कर्णेजपी सदा ॥

विवेचन—'पापी' अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'पापा' होना चाहिये। **केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च** (४.१.३०) सूत्रद्वारा संज्ञा और वेद में ही ङीप् का विधान कहा गया है। नापितस्य स्त्री नापिती, यहां पुंयोग में ङीष् ठीक ही है। 'कर्णेजप' शब्द **स्तम्बकर्णयोरमिजपोः** (३.२.१३) सूत्रद्वारा अच्प्रत्ययान्त सिद्ध हुआ है अतः यहां स्त्रीत्व में टाप् हो कर 'कर्णेजपा' होना चाहिये।

(८९) अहो त्रिहायना बाला गीर्वाणीभाषणे रता ॥

विवेचन—'त्रिहायना' के स्थान पर 'त्रिहायणी' होना चाहिये। यहां **दामहायनान्ताच्च** (४.१.२७) सूत्रद्वारा वयः अर्थ में हायनान्त शब्द से स्त्रीत्व में ङीप् तथा **त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्** (वा०) वार्तिक से णत्व करने पर 'त्रिहायणी' निष्पन्न होता है। इसीप्रकार 'चतुर्हायणी कन्या' के विषय में समझना चाहिये।

(९०) त्रिहायणीषु शालासु मोदन्ते धनिका जनाः ॥

विवेचन—'त्रिहायणीषु' के स्थान पर 'त्रिहायनासु' होना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त **दामहायनान्ताच्च** (४.१.२७) द्वारा विधीयमान ङीप् और वार्तिकोक्त णत्व

दोनों वयोवाच्य होने पर ही हुआ करते हैं। यहां वय: की कोई बात ही नहीं, 'शालासु' को विशेषित किया जा रहा है अत: ङीप्+णत्व न हो कर टाप् ही होगा।

(९१) छात्त्रीणां **छात्त्रवृन्देन सङ्गोऽनर्थकरो महान्** ॥

विवेचन—छादनं छत्त्रम्, छत्त्रं शीलमस्येति छात्त्र:। छत्त्रशब्द से '**छत्त्रादिभ्यो ण:**' (४.४.६२) द्वारा तद्धित 'ण' प्रत्यय करने पर 'छात्त्र' शब्द निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवति** (ज्ञापक) इस के आश्रय से अण्निमित्तक **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्राप्त होता हे। परन्तु **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** के अनुसार यहां ङीप् न हो कर टाप् ही होता है—छात्त्रा। इसीलिये तो मुनि ने **छत्त्रादिभ्योऽण्** सूत्र न बना कर **छत्त्रादिभ्यो ण:** (४.४.६२) बनाया हे। इस प्रकार छात्त्रीणाम् के स्थान पर छात्त्राणाम् ऐसा स्त्रीलिङ्ग प्रयोग होना चाहिये। [दृश्यतां **छत्त्रादिभ्यो ण:** (४.४.६२) इत्यत्रत्य: शब्देन्दुशेखर:।]

(९२) आकृतिग्रहणा **जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्** ॥

विवेचन--गृह्यते=ज्ञायतेऽनेनेति ग्रहणम्, करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। आकृति: (अवयवसन्निवेश:) ग्रहणम्=ज्ञानसाधनं यस्या: सा आकृतिग्रहणा। यहां बहुव्रीहिसमास में 'ग्रहण' शब्द उपसर्जन है अत: ल्युडन्त होते हुए भी टित्त्व के कारण ङीप् नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

(९३) जीवपत्नी **तु या नारी** पतिवत्नी**ति भण्यते** ॥

विवेचन—जीवतीति जीव:, पचाद्यच्। जीव: पतिर्यस्या: सा जीवपत्नी जीवपतिर्वा। बहुव्रीहिसमास में स्त्रीत्व की विवक्षा में **विभाषा सपूर्वस्य** (४.१.३४) से पतिशब्द के इकार को विकल्प से नकार आदेश हो जाता है। नकारादेश वाले पक्ष में नान्तलक्षण ङीप् होकर 'जीवपत्नी' तथा अन्यत्र 'जीवपति:' बनता है। इसी अर्थ में **अन्तर्वत्-पतिवतोर्नुँक्** (४.१.३२) सूत्र से पतिवत् को नुँक् का आगम हो कर **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से नान्तलक्षण ङीप् करने से 'पतिवत्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

(९४) **गर्भं धत्ते तु या नारी सान्तर्वत्नी स्मृता बुधै:** ॥

विवेचन—गर्भिणी स्त्री के वाच्य होने पर **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्** (४.१.३२) सूत्रद्वारा 'अन्तर्वत्' शब्द को नुँक् का आगम हो कर नान्तलक्षण ङीप् करने से 'अन्तर्वत्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जैसाकि अमरकोष में कहा गया है—**आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी।**

(९५) **द्रष्टारो वेदमन्त्राणाम् आसन् कतिपया: स्त्रिय:** ॥

विवेचन—'द्रष्टृ' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२)

---

१. **मत्वर्थे पतिमच्छब्दे स्त्रियां वत्वं निपात्यते।**
नुगागमे ततो ङीपि पतिवत्नीति सिध्यति॥

सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर 'द्रष्ट्री' शब्द बनता है। अतः यहां प्रथमा के बहुवचन में 'द्रष्ट्र्यः' प्रयोग करना चाहिये।

(९६) **वृद्धहस्तगता यूनी मोदते न कदाचन ॥**

विवेचन—'यूनी' यह अपशब्द है। **यूनस्तिः** (१२७६) द्वारा युवन्शब्द से 'ति' प्रत्यय करने से 'युवतिः' प्रयोग बनता है।

(९७) **नदीयं जानुदघ्नापि वेगेन दुस्तरी मता ॥**

विवेचन—'जानुदघ्ना' यह अपशब्द है। **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् हो कर 'जानुदघ्नी' होना चाहिये। 'दुस्तर' शब्द खल्प्रत्ययान्त है। स्त्रीत्व में इस से ङीप्-ङीष्-ङीन् किसी की प्राप्ति नहीं। अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'दुस्तरा' बनेगा।

(९८) **विशदा विमला मेधा विद्यानां** पारदृश्वनी।
दीयतां मे सदा देव किञ्चिदन्यन्न कामये ॥

विवेचन—'पारदृश्वनी' के स्थान पर 'पारदृश्वरी' होना चाहिये। पारं दृष्टवतीति पारदृश्वरी। 'पार' कर्म के उपपद रहते दृश्धातु से क्वनिँप् प्रत्यय करने पर 'पारदृश्वन्' शब्द बनता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **वनो र च** (४.१.७) सूत्र से ङीप् प्रत्यय तथा वन् के नकार को रेफ आदेश करने से 'पारदृश्वरी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(९९) **सा हि तस्य** धनक्रीता **प्राणेभ्योऽपि** गरीयसी ॥ **(काशिका)**

विवेचन—**गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही 'क्रीत' इस कृदन्त के साथ 'धन टा' का समास हो कर **क्रीतात् करणपूर्वात्** (१२६४) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् हो कर 'धनक्रीती' बनना चाहिये जो यहां नहीं हुआ। परन्तु इस का समाधान इस प्रकार करते हैं कि पूर्वोक्त परिभाषा अनित्य या प्रायिक है, कभी कभी इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती। अतः यहां भी इस की अप्रवृत्ति मान लेने से, पहले 'क्रीत' शब्द से विभक्त्युत्पत्ति करते समय टाप् हो कर 'क्रीता' बन जायेगा। तब 'धन टा + क्रीता सुँ' का तृतीयातत्पुरुषसमास हो कर 'धनक्रीता' बन जायेगा। 'गरीयस्' शब्द ईयसुँन्-प्रत्ययान्त है अतः **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् हो जाता है।

(१००) **परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ?**

विवेचन—युवन्शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्रद्वारा तद्धित 'ति' प्रत्यय हो कर 'युवतिम्' प्रयोग होना चाहिये। कुछ लोगों का कहना है कि 'युवति' शब्द से **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर

'युवती' बनाया जा सकता है[1]। अन्य लोग **यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः** (अदा० परस्मै०) धातु से शतृँ प्रत्यय कर 'युवत्' शब्द बना **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् कर 'युवती' की सिद्धि किया करते हैं। परन्तु इस प्रकार प्रयोग की सिद्धि हो जाने पर भी वयः का बोध नहीं होता जिस की यहां विवक्षा है।

[२] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगताऽष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में इस प्रकरण में प्रयुक्त अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादिक्रम से तालिका दी गई है। मूलोक्त सूत्र स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त सूक्ष्म टाइप में मुद्रित किये गये हैं। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।]

१. इस प्रकार स्वीकार करने से एक दोष प्रसक्त होता है। तथाहि—जब 'ति' द्वारा एक बार स्त्रीत्व कह दिया गया तो पुनः ङीष् के द्वारा उसे व्यक्त करने की क्या जरूरत। कहा भी गया है—**उक्तार्थानामप्रयोगः**। इस का परिहार इस तरह किया जाता है कि स्त्रीप्रत्ययों में **उक्तार्थानामप्रयोगः** वाला नियम लागू ही नहीं होता, तभी तो **कृदिकारादक्तिनः** में 'अक्तिनः' कहा गया है, अन्यथा क्तिन्द्वारा स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर दूसरे स्त्रीप्रत्यय के लाने का प्रश्न ही नहीं उठता, उस के लिये 'अक्तिनः' निषेध की जरूरत ही क्या थी?

[३] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में वार्त्तिकों, परिभाषाओं, गणसूत्रों, न्यायों, फिट्सूत्रों एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यवचन आदियों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। इन के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

[४] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगतोदाहरणतालिका

[भैमीव्याख्या के इस षष्ठभाग के अन्तर्गत उदाहरणरूप से निर्दिष्ट प्रायः छः सौ रूपों की अकारादिक्रम से यहां अनुक्रमणी दी जा रही है। इन रूपों के आगे कोष्ठकों में स्त्रीप्रत्यय दर्शाये गये है। (×) इस चिह्न से चिह्नित स्थानों पर किसी स्त्रीप्रत्यय के न होने को संकेतित किया गया है। कोष्ठकों के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है। मूलोक्त उदाहरण स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त उदाहरण सूक्ष्म टाइप में अङ्कित समझने चाहियें।]

[अ]

[५] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायीसूत्रपाठः

[इस परिशिष्ट में सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण अष्टाध्यायीक्रमानुसार दिया जा रहा है। विद्यार्थी यदि इसे कण्ठस्थ कर लें तो इस प्रकरण में ऐसा नैपुण्य प्राप्त हो सकता है जो कौमुदीक्रम में दुर्लभ है। इन सूत्रों में जो सूत्र लघुसिद्धान्तकौमुदी के मूल में पढ़े गये हैं उन्हें स्थूल टाइप में तथा अन्यों को बारीक टाइप में दिया गया है।]

अष्टाध्यायीसूत्रपाठे—

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

(१) ङ्याप्प्रातिपदिकात्।
(२) **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्यस्ङसोसांङ्योस्सुप्।**
(३) **स्त्रियाम्।**
(४) **अजाद्यतष्टाप्।**
(५) **ऋन्नेभ्यो ङीप्।**
(६) **उगितश्च।**
(७) वनो र च।
(८) पादोऽन्यतरस्याम्।
(९) टाबृचि।
(१०) **न षट्स्वस्रादिभ्यः।**
(११) मनः।
(१२) अनो बहुव्रीहेः।
(१३) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्

(१४) अनुपसर्जनात् ।
(१५) **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ।**
(१६) **यञश्च ।**
(१७) **प्राचां ष्फ तद्धितः ।**
(१८) सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ।
(१९) कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च ।
(२०) **वयसि प्रथमे ।**
(२१) **द्विगोः ।**
(२२) अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ।
(२३) काण्डान्तात् क्षेत्रे ।
(२४) पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ।
(२५) बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ।
(२६) सङ्ख्याऽव्ययादेर्ङीप् ।
(२७) दामहायनान्ताच्च ।
(२८) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ।
(२९) नित्यं सञ्ज्ञाछन्दसोः ।
(३०) केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽर्यकृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च
(३१) रात्रेश्चाजसौ ।
(३२) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ।
(३३) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।
(३४) विभाषा सपूर्वस्य ।
(३५) नित्यं सपत्न्यादिषु ।
(३६) पूतक्रतोरै च ।
(३७) वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः ।
(३८) मनोरौ वा ।
(३९) **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ।**
(४०) अन्यतो ङीष् ।
(४१) **षिद्गौरादिभ्यश्च ।**
(४२) जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ।
(४३) शोणात् प्राचाम् ।
(४४) **वोतो गुणवचनात् ।**
(४५) **बह्वादिभ्यश्च ।**
(४६) नित्यं छन्दसि ।
(४७) भुवश्च ।
(४८) **पुंयोगादाख्यायाम् ।**
(४९) **इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक् ।**
(५०) **क्रीतात्करणपूर्वात् ।**
(५१) क्तादल्पाख्यायाम् ।
(५२) बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ।
(५३) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ।
(५४) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ।**
(५५) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ।
(५६) **न क्रोडादिबह्वचः ।**
(५७) सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च
(५८) **नखमुखात्संज्ञायाम् ।**
(५९) दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि ।
(६०) दिक्पूर्वपदान्ङीप् ।
(६१) वाहः ।
(६२) सख्यशिश्वीति भाषायाम् ।
(६३) **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।**
(६४) पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-फल-मूल-वालोत्तरपदाच्च ।

(६५) **इतो मनुष्यजातेः ।**
(६६) **ऊङुतः ।**
(६७) बाह्वन्तात् संज्ञायाम् ।
(६८) **पङ्गोश्च ।**
(६९) **ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।**
(७०) **संहितशफलक्षणवामादेश्च ।**
(७१) कद्रु-कमण्डल्वोश्छन्दसि ।
(७२) सञ्ज्ञायाम् ।
(७३) **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ।**
(७४) यङश्चाप् ।
(७५) आवट्याच्च ।
(७६) तद्धिताः ।
(७७) यूनस्तिः ।

[६] परिशिष्टे—विशेषद्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कतिपय द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है । आगे पृष्ठसंख्या दी गई है ।]

[७] परिशिष्टे—विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[भैमीव्याख्या-षष्ठभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां संकलित किये गये हैं ।]

(१) टाप्-डाप्-चापस्त्रयोऽप्येते ङीप्-ङीष्-ङीन्प्रत्ययैः सह ।
ऊङ्तिभ्यां मिलिताश्चापि सन्त्यष्टौ प्रत्ययाः स्त्रियाम् ॥ (पृष्ठ २)

(२) स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥ (पृष्ठ ३)

(३) स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥ (पृष्ठ ८)

(४) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप्ख्युनाम् ...
टिड्ढाणञ्द्वयसच्चुटूङसिङसोस्तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्-
वस्मस्ताहृशिचष्टुनाष्टुरत इञ्शश्छोऽटचचोऽन्त्यादि टि ।
लोपोव्योर्वलिवृद्धिरेचियचिभं दाधाघ्वदाप्छेचटे-
रित्यब्दानखिलान्नयन्ति कतिचिच्छब्दान् पठन्तः कटून् ॥ (पृष्ठ ११)

(५) स्मृत्याऽजादिगणे युक्ता टाबुत्पत्तिर्द्विगोरपि ।
त्र्यनीकेति गणे कीर्त्यः स्यादाकृतिगणो हि सः ॥ (पृष्ठ ३१)

(६) त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
एतच्छिवे ! विजानीहि ब्राह्मणाग्रचस्य लक्षणम् ॥ (पृष्ठ ३५)

(७) सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥ (पृष्ठ ३७)

(८) क्वचित्पुत्र्यामपि हरः पुंयोगे ङीषमिच्छति ।
केकयी केकयसुता देवकी देवकात्मजा ॥ (पृष्ठ ४३)

(९) एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (पृष्ठ ५५)

(१०) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (पृष्ठ ५५)

(११) अर्याणी स्वयमर्या स्यात् क्षत्रिया क्षत्रियाण्यपि ।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः ॥
आचार्यानी तु पुंयोगे स्यादर्यी क्षत्रियी तथा ।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी ॥ (पृष्ठ ५६)

(१२) सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ (पृष्ठ ५७)

(१३) अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम् ॥ (पृष्ठ ६२)

(१४) क्रोड-बाल-गला भाल-भगोखाः खुरसंयुताः ।
शफो भुजो गुदं घोणाकरौ क्रोडादिनामनि ॥ (पृष्ठ ६६)

(१५) अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तद् निभं च प्रतिमादिषु ॥ (पृष्ठ ६४)

(१६) आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥ (पृष्ठ ७०)

(१७) गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ॥ (पृष्ठ ७१)

(१८) शूद्री शूद्रस्य भार्या स्याच्छूद्रा तज्जातिरेव च ।
आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा ॥ (पृष्ठ ७१)

(१९) पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥ (पृष्ठ ७३)

(२०) सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ॥ (पृष्ठ ७६)

(२१) अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम् ।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ॥ (पृष्ठ ८९)

[८] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि

[स्त्रीप्रत्ययों के विधायकसूत्रों में विद्यार्थी प्रायः ङोप्-ङीष्-ङीन् आदि में अशुद्धि कर जाते हैं । अतः यहां उन के सौकर्य के लिये तत्तत्प्रत्ययों के विधायकसूत्र पृथक् पृथक् दर्शाए जा रहे हैं ।]

[१] टाप्-विधायक—
१. अजाद्यतष्टाप् (१२४९)

[२] डाप्-विधायक—
१. डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४.१.१३)

[३] चाप् विधायक—
१. सूर्याद्देवतायाँ चाब्वाच्यः (वा०)

[४] ङीप्-विधायक—
१. ऋन्नेभ्यो ङीप् (२४२)
२. उगितश्च (१२५०)
३. यञश्च (१२५२)
४. टिड्ढाणञ्० (१२५२)
५. नञ्स्नञीकक्० (वा०)
६. वयसि प्रथमे (१२५६)
७. द्विगोः (१२५७)
८. वर्णादनुदात्तात्तोप० (१२५८)
९. वनो र च (४.१.८)
१०. पादोऽन्यतरस्याम् (४.१.८)
११. अन उपधालोपिनो० (४.१.२८)
१२. दामहायनान्ताच्च (४.१.२७)
१३. केवलमामकभागधेय० (४.१.३०)

[५] ङीष्-विधायक—

१. षिद्गौरादिभ्यश्च (१२५५)
२. आमनडुहः स्त्रियां वा (गण०)
३. अन्यतो ङीष् (४.१.४०)
४. वोतो गुणवचनात् (१२५६)
५. बह्वादिभ्यश्च (१२६०)
६. कृदिकारादक्तिनः (गण०)
७. सर्वतोऽक्तिन्नर्थाद्० (गण०)
८. पुंयोगादाख्यायाम् (१२६१)
९. इन्द्रवरुणभवशर्व० (१२६३)
१०. मातुलोपाध्याययोरानुंग्वा (वा०)
११. आचार्यादणत्वं च (वा०)
१२. अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे (वा०)
१३. क्रीतात्करणपूर्वात् (१२६४)
१४. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद० (१२६६)
१५ जातेरस्त्रीविषयाद० (१२६९)
१६. योपधप्रतिषेधे हयगवय० (वा०)
१७. इतो मनुष्यजातेः (१२७०)
१८. नासिकोदरौष्ठ० (४.१.३०)
१९. अङ्गगात्रकण्ठेभ्य० (वा०)
२०. पुच्छाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)
२१. बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४.१.२५)
२२. पाणिगृहीती भार्यायाम् (वा०)
२३. सख्यशिश्वीति भाषायाम् (४.१.६२)

[६] ङीन्-विधायक—

१. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् (१२७५)
२. नृनरयोर्वृद्धिश्च (गण०)

[७] ऊङ्-विधायक—

१. ऊङुतः (१२७१)
२. पङ्गोश्च (१२७२)
३. श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च (वा०)
४. ऊरूत्तरपदादौपम्ये (१२७३)
५. संहितशफलक्षणवामादेश्च (१२७४)

[८] ति-विधायक—

१. यूनस्तिः (१२७६)

[९] परिशिष्टे—संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम् (सव्याख्यम्)

[संस्कृत में शब्दों के लिङ्गों का ज्ञान अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक जटिल, ध्यातव्य एवं चिन्तनीय है। यहां विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार ही प्रायः विशेषण का लिङ्ग होता है। सर्वनामों से भी विशेष्यानुसार लिङ्गव्यवस्था मानी जाती है। अतः लिङ्गज्ञान इस में अत्यावश्यक होता है। लिङ्गविषयक अशुद्धि से सारा वाक्य ही गड़बड़ा सकता है। प्राचीनकाल में जब संस्कृत लोकभाषा थी तब लोकव्यवहार से ही लिङ्गों का ज्ञान हो जाता था, अतएव भाष्यकार ने कहा है—**लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्य)। परन्तु अब जबकि संस्कृत लोकभाषा नहीं रही, ग्रन्थों तक ही सीमित तथा विद्वत्समाज की ही व्यवहार्य वस्तु रह गई है तो लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पूर्वापेक्षया और भी अधिक बढ़ गई है। अद्यत्वे सुधीजन भी लिङ्ग के विषय में व्यामूढ़ हो कर बहुधा स्खलन करते देखे जाते हैं। अत एव लिङ्गज्ञान को अत्यावश्यक समझते हुए संस्कृत कोषकार प्रत्येक शब्द के लिङ्ग को दर्शाने में सयत्न देखे जाते हैं।]

पाणिनीय लिङ्गानुशासन से पूरी तरह तो नहीं पर हां कुछ सीमा तक लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पूरी हो जाती है और इस से विद्यार्थी लिङ्गज्ञान के प्रति

जागरूक एवं प्रबुद्ध हो जाते हैं। बस यही सोचकर यहां बालोपयोगी संक्षिप्त पाणिनीय-लिङ्गानुशासन की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है छात्रवृन्द इस से लाभान्वित हो सकेगा।

पुंलिङ्ग आदि शब्दो में पुम्स् आदि शब्द भावप्रधान निर्दिष्ट किये गये हैं। पुंस्त्वं लिङ्गम् अस्येति पुंलिङ्गोऽर्थः। स्त्रीत्वं लिङ्गमस्येति स्त्रीलिङ्गः। नपुंसकत्वं लिङ्गमस्येति नपुंसकलिङ्गः। वैयाकरण लिङ्ग को अर्थ-निष्ठ मानते हैं पर शब्द और अर्थ के अभेदोपचार के कारण शब्दों में भी पुंलिङ्ग आदि का व्यवहार किया जाता है।

※ अथ संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम् ※

[१] **लिङ्गम्** ॥

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे शब्दों के लिङ्गों का अनुशासन किया जायेगा।

[२] **स्त्री** ॥

सर्वप्रथम स्त्रीलिङ्ग का अधिकार चला रहे हैं।

[३] **ऋकारान्ता मातृ-दुहितृ-स्वसृ-यातृ-ननान्दरः** ॥

मातृ (माता), दुहितृ (पुत्री), स्वसृ (बहन), यातृ (देवर की पत्नी), ननान्दृ ननन्द)—ये पांच ऋदन्त प्रकृतियां स्त्रीलिङ्ग होती हैं। इयं माता, इयं दुहिता, इयं स्वसा, इयं याता, इयं ननान्दा। कर्तृ आदि यौगिक शब्दों में या क्रोष्टृ आदि रूढशब्दों में स्त्रीत्व की विवक्षा में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो कर कर्त्री, क्रोष्ट्री आदि रूप बन जाते हैं, वे ऋदन्त नहीं रहते। तिसृ और चतसृ ऋदन्तप्रकृति नहीं अपितु त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश हैं[1]। अतः ऋदन्तप्रकृतिक उपर्युक्त पाञ्च शब्द ही स्त्रीलिङ्ग हैं। इन में **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (२३३) से ङीप् का निषेध कहा गया है।

[४] **अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः** ॥

धातु से अनिप्रत्यय अथवा ऊप्रत्यय करने पर निष्पन्न होने वाले शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। **उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** (उणाद्यन्त भी व्युत्पन्न=यौगिक प्रातिपदिक होते हैं) इस मत का आश्रयण कर इस सूत्र का निर्माण किया गया है।

अनिप्रत्ययान्त यथा – इयम् अवनिः (पृथ्वी), सरणिः (मार्ग), धरणिः (पृथ्वी), धमनिः (नाड़ी, धौंकनी) आदि। **कृदिकारादक्तिनः** (गण०) से पक्ष में ङीष् हो कर अवनी, सरणी आदि भी बनेंगे।

ऊप्रत्ययान्त यथा—इयं चमूः (सेना), तनूः (शरीर), वधूः, कण्डूः (खारिश), खर्जूः (खाज), दर्द्रूः (दाद) आदि।

[५] **अशनिभरण्यरणयः पुंसि वा** ॥

---

१. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (२२४)।

अनिप्रत्ययान्त अशनि (तडित्, बिजली), भरणि (नक्षत्र-विशेष), अरणि (काष्ठविशेष : जिसके मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती है)—ये शब्द पुंलिङ्ग भी होते हैं। पूर्वसूत्र से इन की स्त्रीलिङ्गता प्राप्त होती है। अयम् इयं वा अशनिः। अयं भरणिः, इयम्भरणिः। अयमरणिः, इयमरणिः। स्त्रीत्वपक्ष में वैकल्पिक ङीष् भी होगा—अशनी, भरणी, अरणी।

[६] **मिन्यन्तः ॥**

मिप्रत्ययान्त तथा निप्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—भूमिः। ग्लानिः। हानिः। इत्यादि।

[७] **वह्निवृष्ण्यग्न्यः पुंसि ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। वह्नि, वृष्णि और अग्नि शब्द निप्रत्ययान्त होते हुए भी पुंलिङ्ग होते हैं। अयं वह्निः। अयं वृष्णिः। अयम् अग्निः।

[८] **क्तिन्नन्तः ॥**

क्तिन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—कृतिः, दृष्टिः, भूतिः, प्रसूतिः आदि। 'अक्तिनः' कथन के कारण पक्ष में ङीष् न होगा।

[९] **ईकारान्तश्च ॥**

'ई' प्रत्ययान्त शब्द भी स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयम् अवीः (रजस्वला स्त्री), तरीः (नौका), स्तरीः (धूम), तन्त्रीः (वीणा), लक्ष्मीः। ईप्रत्यय औणादिक है।

[१०] **ऊङाबन्तश्च ॥**

ऊङ्प्रत्ययान्त तथा आबन्त (टाप्-डाप्-चाप्—प्रत्ययान्त) शब्द भी स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऊङन्त यथा—इयं कुरूः, पङ्गूः, श्वश्रूः, करभोरूः, संहितोरूः आदि। आबन्त यथा—इयं विद्या, गङ्गा, जरा, त्वरा, सूर्या आदि।[1]

[११] **य्वन्तमेकाक्षरम् ॥**

एक अच् वाले जो ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द वे स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं श्रीः, भूः, धीः ह्रीः, भीः, भ्रूः। इत्यादि। एकाच्कथन से बहुव्रीहि में नहीं होता—पृथुश्रीः, प्राप्तभूः इत्यादि शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग धारण करते हैं।

[१२] **विंशत्यादिरानवतेः ॥**

विंशति से ले कर नवनवति तक के शब्द चाहे संख्येयवाची हों या संख्यावाची सदा स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं विंशतिः, इयं त्रिंशत्, इयं चत्वारिंशत्, इयं

---

१. कई ग्रन्थों में इस सूत्र का पाठ इस प्रकार पाया जाता है—**ऊङ्ङ्याबन्तश्च।** इस का अर्थ होगा—ऊङ्प्रत्ययान्त, ङी (ङीप्-ङीष्-ङीन्) प्रत्ययान्त तथा आप् (टाप्-डाप्-चाप्) प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऊङ्प्रत्ययान्तों तथा आप्-प्रत्ययान्तों के उदाहरण ऊपर दे दिये गये हैं। ङीप्रत्ययान्तों के उदाहरण हैं—नदी, गौरी, ब्राह्मणी आदि।

पञ्चाशत्, इयं षष्टिः, इयं सप्ततिः, इयमशीतिः, इयन्नवतिः। विंशतिः आदि यदि संख्यापरक हों तो द्विवचन और बहुवचन में भी प्रयुक्त हो सकते हैं परन्तु रहेंगे तब भी स्त्रीलिङ्ग। यथा—छात्राणां द्वे विंशती, बालानां तिस्रो विंशतयः। चतस्रो नवतयो रूप्यकाणाम्।

[१३] **तलन्तः॥**

तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—शुक्लस्य भावः शुक्लता। शुभ्रता। जडता। मृदुता। ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मणता। जनानां समूहो जनता। ग्रामता। बन्धुता। देव एव देवता [**स्वार्थिका अपि प्रत्ययाः क्वचित् प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते** इत्युक्तेः प्रकृतिभिन्नलिङ्गत्वम]।

[१४] **भूमि-विद्युत्-सरिल्लता-वनिताभिधानानि॥**

भूमि, विद्युत्, सरित् (नदी), लता और वनिता (स्त्री) इन के पर्यायशब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

भूमि के पर्याय यथा—इयं भूमिः, अचला, विश्वम्भरा, वसुधा आदि।

विद्युत्पर्याय यथा—इयं विद्युत्, तडित्, सौदामनी, चपला, चञ्चला आदि।

सरित्पर्याय यथा—इयं सरित्, तटिनी, निम्नगा, आपगा, स्रोतस्वती आदि।

लतापर्याय यथा—इयं लता, व्रततिः, वल्ली, वल्लरी आदि।

वनिता के पर्याय यथा—इयं योषित्, वनिता, अबला, वामा आदि।

[१५] **भास्-स्रुक्-स्रग्-दिगुष्णिगुपानहः॥**

भास् (सकारान्त, प्रकाश), स्रुच् (चकारान्त, स्रुवा), स्रज् (जकारान्त, पुष्पमाला), दिश् (दिशा), उष्णिह् (छन्दो-विशेष), उपानह् (जूता)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। इयं भाः। इयं स्रुक्। इयं स्रक्। इयं दिक्। इयम् उष्णिक्। इमे उपानहौ।

[१६] **प्रावृड्-विप्रुड्-रुड्-विट्-त्विषः॥**

प्रावृष् (बरसात), विप्रुष् (बूंद), रुष् (क्रोध), विष् (विष्ठा), त्विष् (कान्ति) —ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं प्रावृट्। एता विप्रुषः परिहरेत्। महत्या रुषाऽऽक्रान्तोऽयंसर्पः। एतया विषा दूषितं जलम्। महत्या त्विषा भासतेऽस्य मुखम्।

[१७] **शष्कुलि-राजि-कुट्यशनि-वर्त्ति-भ्रुकुटि-त्रुटि-वलि-पङ्क्तयः॥**

शष्कुलि आदि नौ शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं शष्कुलिः (कर्णमार्ग), राजिः (पङ्क्ति), कुटिः (कुटिया), अशनिः (बिजली), वर्त्तिः (बत्ती), भ्रुकुटिः (भौं), त्रुटिः (क्षण, लेश, कण आदि), वलिः (झुरी), पङ्क्ति (कतार) पक्ष में ङीष् हो कर शष्कुली, राजी आदि भी बनते हैं।

[१८] **अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च॥**

अप् (जल), सुमनस् (पुष्प), समा (वर्ष, संवत्सर), सिकता (रेत), वर्षा (बरसात)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं, इनका बहुवचन में प्रयोग होता है। यथा—इमा

आपः । एताः सुमनसः । **मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः** (रामायणे) । **लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्** (भर्तृहरेः) । वर्षासु वर्षन्ति मेघाः । देवतावाची सुमनस् शब्द पुंलिङ्ग है । सिकता और समा शब्द कहीं कहीं अबहुवचनान्त भी देखे जाते हैं । **एका सिकता तैलदानेऽसमर्था, खार्येप्यसमर्था** (महाभाष्ये) । (५.२.१२) ।[1]

[इति स्त्रीलिङ्गाधिकारः]

[१९] **पुमान्** ॥

यह अधिकारसूत्र है । अब यहां से आगे पुंलिङ्ग शब्दों का अधिकार चला रहे हैं ।

[२०] **घञबन्तः** ॥

घञ्प्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । घञ्प्रत्ययान्त यथा—पाकः, त्यागः, रागः, भागः, पाठः, नाशः, दाहः आदि । अप्प्रत्ययान्त यथा—करः, गरः, यवः, लवः, स्तवः, पवः आदि ।

[२१] **घाजन्तश्च** ॥

घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । घप्रत्ययान्त यथा—विस्तरः । आकरः । आलयः । दन्तच्छदः (ओष्ठ) । गोचरः । सञ्चरः । वहः (स्कन्ध) । व्रजः (गोष्ठ) । आपणः (दुकान) । निगमः (वेद) । अच्प्रत्ययान्त यथा—चयः, जयः, क्षयः आदि[2] ।

[२२] **नङन्तः** ॥

नङ्प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग होते हैं । **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०)—यज्ञः, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्ष्णः ।

[२३] **याच्ञा तु स्त्रियाम्** ॥

याच्ञाशब्द नङ्प्रत्ययान्त होता हुआ भी स्त्रीलिङ्ग होता है । **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (मेघदूत ६) ।

[२४] **क्यन्तो घुः** ॥

घुसंज्ञकधातु से 'कि' प्रत्यय करने पर निष्पन्न शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । **उपसर्गे घोः किः** (८६२)—प्रधिः, उपधिः, आधिः, व्याधिः, विधिः, निधिः, सन्धिः आदि ।

---

१. **आपः सुमनसो वर्षा अप्सरःसिकतासमाः ।**
एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम् ॥

२. इस के कई अपवादस्थल भी हैं । यथा—महद् भयम् । भयशब्द अप्प्रत्ययान्त होता हुआ भी नपुंसक होता है । कहा भी गया है—**भय-लिङ्ग-भग-पदानि नपुंसके** ।

[२५] **देवाऽसुरात्म-स्वर्ग-गिरि-समुद्र-नखकेश-दन्त-स्तन-भुज-कण्ठ-खड्ग-शर-पङ्का-मिधानानि ॥**

देव, असुर, आत्मन्, स्वर्ग, गिरि, समुद्र, नख, केश, दन्त, स्तन, भुज, कण्ठ, खड्ग, शर और पङ्क—इन सब के पर्याय पुंलिङ्ग होते हैं।

देव के पर्याय—अमरः, निर्जरः, देवः, सुरः आदि[1]।

असुर के पर्याय—असुरः, राक्षसः, दानवः, दनुजः आदि।

आत्मन् के पर्याय—आत्मा, क्षेत्रज्ञः, पुरुषः आदि।

स्वर्ग के पर्याय—स्वर्गः, नाकः, सुरलोकः, आदि[2]।

गिरि के पर्याय—गिरिः, पर्वतः, नगः आदि।

समुद्र के पर्याय—समुद्रः, सागरः, रत्नाकरः, पारावारः आदि।

नख के पर्याय—पुनर्भवः, कररुहः, नखः आदि।

केश के पर्याय—चिकुरः, कुन्तलः, बालः, केशः आदि।

दन्त के पर्याय—रदः, रदनः, दन्तः आदि।

स्तन के पर्याय—स्तनः, कुचः, वक्षोजः आदि।

भुज के पर्याय—भुजः, बाहुः आदि।

कण्ठ के पर्याय—कण्ठः, गलः आदि।

खड्ग के पर्याय—खड्गः, असिः, निस्त्रिंशः आदि।

शर के पर्याय—शरः, बाणः, आशुगः आदि।

पङ्क के पर्याय—पङ्कः, कर्दमः आदि।

[२६] **नान्तः ॥**

नकारान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—राजा, श्वा, तक्षा, वृषा, ऋभुक्षाः, वृत्रहा, तनिमा, गरिमा आदि। ब्रह्मन्, चर्मन् आदि शब्द **मन् द्व्यच्कोऽकर्त्तरि** (७१) इस लिङ्गानुशासनीय अग्रिमसूत्र से नपुंसक होते हैं। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** चर्म। वर्म। आदि।

[२७] **क्रतु-पुरुष-कपोल-गुल्फ-मेघाभिधानानि ॥**

क्रतु (यज्ञ), पुरुष, कपोल (गाल), गुल्फ (गिट्टा) और मेघ—इन पाञ्च के वाचक शब्द पुलिङ्ग होते हैं।

क्रतुवाचक—क्रतुः। यज्ञः। अध्वरः। मखः। आदि।

पुरुषवाचक—पुरुषः। नरः। पुमान्। आदि।

कपोलवाचक—कपोलः। गण्डः। आदि।

---

१. देवता शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है।

२. स्वर्गवाची 'त्रिविष्टप' शब्द नपुंसक तथा 'द्यो' और 'दिव्' शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। **द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्**—इत्यमरः।

गुल्फवाचक—गुल्फः । पादग्रन्थिः । आदि ।

मेघवाचक—मेघः । जलधरः । वारिदः । आदि ।

[२८] **अभ्रं नपंसकम् ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। मेघवाचक अभ्रशब्द नपुंसक लिङ्ग होता है। अभ्रं मेघः ।

[२९] **उकारान्तः ॥**

उकारान्त शब्द पुलिङ्ग होते हैं। यथा—विधुः । इक्षुः । शत्रुः । प्रभुः । आदि । यह उत्सर्गसूत्र है । इस के कई अपवादस्थल हैं । निदर्शनार्थ एक अपवादस्थल यथा—

[३०] **धेनु-रज्जु-कुहु-सरयु-तनु-रेणु-प्रियङ्गवः स्त्रियाम् ॥**

धेनु आदि उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। धेनुरियम् । रज्जुरियम् । कुहुः (अमावस, कोयलध्वनि) । इत्यादि । अन्य अपवाद आकरग्रन्थों में देखें ।

[३१] **रुत्वन्तः ॥**

रु-अन्त वाले तथा तु-अन्त वाले शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—मेरुः । सेतुः । हेतुः आदि ।

[३२] **दारु-कसेरु-जत्रु-वस्तु-मस्तूनि नपुंसके ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । दारु आदि शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। इदं दारु (लकड़ी), कसेरु (जलजकन्द विशेष), जत्रु (गले के नीचे की दो हड्डियां), वस्तु, मस्तु (छाछ, लस्सी) ।

[३३] **कोपधः ॥**

जिनकी उपधा में ककार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—स्तबकः (गुच्छा) । कोरकः (कली) । कल्कः (सिल पर पिसा) आदि । इस सूत्र के कई अपवादस्थल हैं। यथा—चिबुक (ठोडी), अंशुक (महीन वस्त्र), प्रातिपदिक, उल्मुक (जलती हुई लकड़ी), कण्टक, मस्तक, पुस्तक, मोदक (लड्डू) आदि शब्द नपुंसक में देखे जाते हैं ।

[३४] **टोपधः ॥**

जिस की उपधा में टकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—घटः । पटः । आदि । इस के कुछ अपवादस्थल भी हैं। यथा—किरीट, लोष्ट, ललाट, मुकुट आदि नपुंसक में देखे जाते हैं । इदं किरीटम् इत्यादि ।

[३५] **णोपधः ॥**

जिन की उपधा में णकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—पाषाणः । गुणः । गणः । पणः । आदि । ऋण, लवण, सुवर्ण, तृण, तोरण, पर्ण, चूर्ण आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं ।

[३६] थोपधः ॥

जिन की उपधा में थकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—रथः। अर्थः आदि। काष्ठ, पृष्ठ, रिक्थ (दाय भाग) सिक्थ (मोम) उक्थ (सामवेद का अवयव) आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३७] नोपधः ॥

नकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—इनः (स्वामी या वैश्य), फेनः (झाग)। कानन, वन, विपिन, तुहिन, जघन, सोपान, रत्न, श्मशान, चिह्न, अजिन (चमड़ा) आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३८] पोपधः ॥

पकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—यूपः। सर्पः। दीपः। सूपः। कूपः आदि। पाप, रूप, पुष्प आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३९] भोपधः ॥

भकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—स्तम्भः। कुम्भः। शलभः। करभः (ऊँट, सूंड) आदि। जृम्भ-शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त देखा जाता है—जृम्भः, जृम्भा, जृम्भम् (जम्भाई)।

[४०] मोपधः ॥

मकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—सोमः। भीमः। स्तोमः। होमः। आदि। रुक्म (सुवर्ण), कुङ्कुम (केसर), इध्म (लकड़ी) आदि शब्द नपुंसक होते हैं।

[४१] योपधः ॥

यकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—समयः। हयः। गवयः आदि। हृदय, इन्द्रिय, किसलय (पल्लव, पत्ता), उत्तरीय (ओढ़ने की चादर) आदि नपुंसक होते हैं।

[४२] रोपधः ॥

रकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—शूरः। वीरः। अङ्कुरः। क्षुरः आदि। द्वार, तक्र, तीर, रन्ध्र, पत्त्र, पात्त्र, छिद्र, शस्त्र, शास्त्र, नेत्र, वक्त्र (मुख), क्षेत्र, मूत्र, केयूर, गह्वर (गुफा) आदि शब्द नपुंसक होते हैं।

[४३] षोपधः ॥

षकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—वृक्षः। मेषः। यक्षः आदि। पुरीष (विष्ठा), किल्बिष (पाप, अपराध) आदि शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[४४] सोपधः ॥

सकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—वत्सः। वायसः। महानसः आदि। बुस (भूसा), मानस, साहस, बिस (कमलनाल) आदि शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[४५] **दाराऽक्षत-लाजाऽसूनां बहुत्वं च ॥**

दार (पत्नी, स्त्री), अक्षत (साबुत चावल), लाज (लाजा), असु (प्राण)—ये शब्द पुंलिङ्ग हैं तथा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। यथा—इमे दाराः, अक्षताः, लाजाः, असवः। नासावसून् मुञ्चति।

[४६] **रश्मि-दिवसाभिधानानि ॥**

रश्मि (किरण) तथा दिवस (दिन) के पर्याय पुंलिङ्ग होते हैं। रश्मि के पर्याय यथा—रश्मिः। मयूखः। किरणः। आदि। किरणवाची दीधितिशब्द स्त्रीलिङ्ग होता है। दिवस के पर्याय यथा—दिवसः। वासरः। घस्रः। आदि। **दिनाहनी नपुंसके**—दिनम्। अहः।

[४७] **ध्वज-गज-मुञ्ज-पुञ्जाः ॥**

ध्वज आदि शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। ध्वजः। गजः। मुञ्जः (मूंज)। पुञ्जः (समूह)।

[४८] **ह्रद-कन्द-कुन्द-बुद्बुद-शब्दाः ॥**

ये पुंलिङ्ग हैं। ह्रदः (अगाधजल जलाशय)। कन्दः। कुन्दः (चमेली का पौधा)[1]। बुद्बुदः (बुलबुला)। शब्दः।

[४९] **सारथ्यतिथि-कुक्षि-बस्ति-पाण्यञ्जलयः ॥**

सारथि आदि इकारान्त छः शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। सारथिः। अतिथिः। कुक्षिः। बस्तिः (मूत्राशय)। पाणिः। अञ्जलिः (जुड़े हुए दोनों हाथ)।

[इति पुंलिङ्गाधिकारः]

[५०] **नपुंसकम् ॥**

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे नपुंसकलिङ्ग का अधिकार है।

[५१] **भावे ल्युडन्तः ॥**

भाववाची ल्युट् प्रत्यय जिसके अन्त में हो वह शब्द नपुंसक होता है। यथा—गमनम्, हसनम्, श्रवणम्, भक्षणम् आदि[2]। 'भावे' कहने से 'पचनोऽग्निः' इत्यादि में नपुंसक नहीं होता, विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है। यहां 'पच्यतेऽनेनेति पचनः' इस तरह **करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) सूत्र से करण में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। इसी तरह 'प्रवृश्च्यन्तेऽनेनेति प्रव्रश्चनः, इध्मानां प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः' इत्यादियों में समझना चाहिये।

[५२] **निष्ठा च ॥**

'भावे' का अनुवर्त्तन हो रहा है। भाव में जो निष्ठा (क्त[3]) तदन्त शब्द

---

१. पुष्प अर्थ में नपुंसक होता है—कुन्दम् (चमेली का फूल)।

२. **नपुंसके भावे क्तः** (८७०), **ल्युट् च** (८७१)।

३. निष्ठा से यहां केवल 'क्त' ही अभिप्रेत है, **क्तवतु नहीं,** क्योंकि वह भाव में नहीं होता कर्त्ता में ही हुआ करता है।

नपुंसक होता है। **नपुंसके भावे क्तः** (८७०)—हसितम्, रुदितम्, ज्वलितम्, गतम्, स्थितम्, नृत्तम् आदि। भावार्थक क्त के प्रयोग में कर्त्ता से शेष की विवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) द्वारा षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—विद्युतो विलसितम् (बिजली का चमकना), छात्त्रस्य हसितम् (छात्र का हंसना), शिशोः शयितम् (बच्चे का सोना), मयूरस्य नृत्तम् (मोर का नाचना), कोकिलस्य व्याहृतम् (कोयल का कूकना), मतङ्गजस्य गतम् (हाथी की चाल)। इन स्थानों पर कृद्योग में प्राप्त कर्ता में षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर अनभिहित कर्त्ता में तृतीया-विभक्ति प्राप्त होती थी परन्तु **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) सूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से ऐसे स्थानों पर केवल शेष की ही विवक्षा मानी जाती है कर्तृत्व की नहीं (देखें The Students' Guide to Sanskrit, by V. S. Apte, Page 105)।

[५३] **त्व-ष्यञौ तद्धितौ** ॥

भाव में विहित तद्धितसञ्ज्ञक जो 'त्व' और 'ष्यञ्' प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। यथा—शुक्लस्य भावः शुक्लत्वं शौक्ल्यम्। जडस्य भावो जडत्वं जाड्यम्। मूढस्य भावो मूढत्वं मौढ्यम्। इन में त्व और ष्यञ् किये गये हैं। चतुरस्य भावः चातुर्यम्। निपुणस्य भावो नैपुण्यम्। मधुरस्य भावो माधुर्यम्। उचितस्य भाव औचित्यम्। इन में ष्यञ् हुआ है। ष्यञ् को षित् किया गया है अतः लक्ष्यानुसार क्वचित् षित्त्वसामर्थ्य से **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् हो कर भसंज्ञक अकार का तथा तद्धित यकार का लोप करने से चातुरी, नैपुणी, माधुरी, औचिती आदि स्त्रीलिङ्ग प्रयोग भी बनते हैं।

स्वार्थ में ष्यञ् होने पर भी नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग देखा जाता है[1]। यथा—सुखमेव सौख्यम्। सन्निधिरेव सान्निध्यम्। समीपमेव सामीप्यम् आदि।

[५४] **यद्-य-ढग्-यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च भावकर्मणि** ॥

भाव अथवा कर्म में होने वाले यत्, य, ढक्, यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ—ये प्रत्यय जिसके अन्त में हों वे शब्द नपुंसकलिङ्ग होते है। उदाहरण यथा—

यत्प्रत्यय—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् (चोरी)।[2]

यप्रत्यय—सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् (मित्रता)।[3]

ढक्प्रत्यय—कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् (चञ्चलता, अनुकरणशीलता)।[4]

यक्प्रत्यय—सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम् (सेनापतित्व)।[5]

---

१. **चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे (ष्यञः) उपसंख्यानम्** (वा०)।
२. **स्तेनाद्यन्नलोपश्च** (५.१.१२५)।
३. **सख्युर्यः** (५.१.१२६)।
४. **कपिज्ञात्योर्ढक्** (११६२)।
५. **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)।

पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहिताई)।
अञ्प्रत्यय—अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम् (घोड़े का भाव)।[1]
कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम् (लड़कपन)।
अण्प्रत्यय—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् (जवानी)।[2]
वुञ्प्रत्यय—रमणीयस्य भावो रामणीयकम्।[3]
छप्रत्यय—अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम्।[4]

[५५] **अव्ययीभावः ॥**

अव्ययीभावसमास नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसकत्व के कारण इसे **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व आदेश हो जाता है। यथा—मालायाम् इत्यधिमालम्। अधिखट्वम्। अधिगोपम्। नद्याः समीपम् उपनदि (टचोऽभावे)। उपपौर्णमासि। अष्टाध्यायी में **अव्ययीभावश्च** (९११) द्वारा प्रतिपादित विषय का यहां पुनः स्मरण कराया गया है। इसीप्रकार आगे के कुछ सूत्रों में समझना चाहिये।

[५६] **द्वन्द्वैकत्वम् ॥**

समाहारद्वन्द्व द्वारा निष्पन्न शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है। यथा—पाणी च पादौ च एषां समाहारः पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्। **द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्यसेनाङ्गानाम्** (९९१) सूत्रद्वारा यहां एकवद्भाव समझना चाहिये।

[५७] **परवत् ॥**

तत्पुरुषसमास परवल्लिङ्ग होता है अर्थात् तत्पुरुष समास में परपद का जो लिङ्ग होता है वही समस्त पद का हो जाता है। यह सूत्र अष्टाध्यायीस्थ **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९९२) का स्मारक है। उदाहरण यथा—पिप्पल्या अर्धम् अर्ध-पिप्पली। इयमर्धपिप्पली ग्राह्या। पूर्वं कायस्य पूर्वकायोऽयम्। इस के कई अपवाद-स्थलों का समासप्रकरण में वर्णन आ चुका है वहीं देखें।

[५८] **रात्राह्नाहाः पुंसि ॥**

यह परवल्लिङ्गता का अपवाद है। रात्र, अह्न, अह—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसा तत्पुरुषसमास पुंलिङ्ग होता है। पूर्वरात्रः। अपररात्रः। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। द्व्यहः। त्र्यहः।

यह सूत्र अष्टाध्यायी में भी पढ़ा गया है। वहां इस सूत्र में 'द्वन्द्व' की भी

---

१. **प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्** (५.१.१२९)।
२. **हायनान्तयुवादिभ्योऽण्** (५.१.१३०)। **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) सूत्र में तद्धितपर्युदास होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ।
३. **योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्** (५.१.१३२)।
४. **होत्राभ्यश्छः** (५.१.१३५)। अच्छावाक ऋत्विग्विशेषः।

अनुवृत्ति आती है अतः रात्रान्त द्वन्द्व भी पुंलिङ्ग समझना चाहिये—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः ।

[५९] **संख्यापूर्वा रात्रिः ॥**

संख्यावाचक जिस का पूर्वपद तथा रात्रिशब्द जिस का उत्तरपद हो ऐसा तत्पुरुषसमास नपुंसकलिङ्ग होता है । यथा—द्वयो रात्र्योः समाहारः—द्विरात्रम् । तिसृणां रात्रीणां समाहारः—त्रिरात्रम् । चतसृणां रात्रीणां समाहारः—चतूरात्रम् । संख्यावाचक पूर्वपद न हो तो परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्र से पुंस्त्व हो जायेगा—सर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । पुण्यरात्रः । इन सब उदाहरणों की सिद्धि इस व्याख्या के समासप्रकरण में देखें ।

[६०] **द्विगुः स्त्रियां च ॥**

द्विगुसमास स्त्रीलिङ्ग में और कहीं कहीं नपुंसकलिङ्ग में भी होता है[1] । स्त्रीलिङ्ग में यथा—त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी । नपुंसकलिङ्ग में यथा—त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम् । पञ्चपात्रम् ।

[६१] **इसुसन्तः ॥**

इस् या उस् जिस के अन्त में हो वह शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है । यथा—हविः, सर्पिः, धनुः, वपुः, चक्षुः आदि ।

[६२] **अर्चिः स्त्रियां च ॥**

परन्तु अर्चिस् (अग्निज्वाला) शब्द स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है । इयमर्चिः । अर्चिरिदम् ।

[६३] **छदिः स्त्रियामेव ॥**

छदिस् (पटल, छत) स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है । जीर्णा छदिर्वर्षासु प्रश्च्योतति । अमरकोष में **पटलं छदिः** ऐसा पाठ है । यहां पटलम् इस नपुंसक के साहचर्य से छदिस् को भी व्याख्याकारों ने नपुंसक माना है परन्तु यह पाणिनिसूत्र के विरुद्ध समझना चाहिये ।

[६४] **मुख-नयन-लोह-वन-मांस-रुधिर-कार्मुक-विवर-जल-हल-धनाऽन्नाभिधानानि ॥**

मुख आदियों के वाचक शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

---

१. अस्य व्यवस्था सूत्रवार्तिकपाठयोरित्थं प्रदर्शिता—**स नपुंसकम्** (२.४.१७)—स समाहारद्विगुर्नपुंसकलिङ्गः स्यात् । परवल्लिङ्गताऽपवादः । पञ्चगवम् । **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०)—पञ्चमूली । त्रिलोकी । **आबन्तो वा** (वा०)—आबन्तो द्विगुः स्त्रियां क्लीबे च स्यात् । पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम् । **अनो नलोपश्च, वा च द्विगुः स्त्रियाम्** (वा०)—अन्नन्तस्य द्विगोर्नलोपः, स्त्रीत्वं वा च, पक्षे क्लीबतेत्यर्थः । पञ्चतक्षा, पञ्चतक्षम् । **पात्राद्यन्तस्य न** (वा०)—स्त्रीत्वं न, अपि तु **स नपुंसकम्** इति क्लीबत्वमेव, अदन्तत्वेन स्त्रीत्वे प्राप्ते तदपवादार्थं वार्तिकम् । पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम् ।

मुखवाचक—मुखम्, वदनम्, वक्त्रम्, आननम् आदि।

नयनवाचक—नेत्रम्, नयनम्, अक्षि, लोचनम् आदि।[1]

लोहवाचक—लोहम्, अयः, कालायसम् आदि।

वनवाचक—वनम्, अरण्यम्, विपिनम्, कान्तारम् आदि।[2]

मांसवाचक—मांसम्, आमिषम्, पिशितम् आदि।

रुधिरवाचक—रुधिरम्, रक्तम्, शोणितम्, अस्रम् आदि।

कार्मुक (धनुष) वाचक—धनुः, कार्मुकम्, शरासनम् आदि।

विवर (छिद्र) वाचक—विवरम्, छिद्रम्, बिलम्, रन्ध्रम् आदि।

जलवाचक—जलम्, पयः, सलिलम्, वारि, तोयम् आदि।

हलवाचक—हलम्, लाङ्गलम् आदि।

धनवाचक—धनम्, वित्तम्, द्रविणम्, वसु आदि।[3]

अन्नवाचक—अन्नम्, अशनम्, अन्धः आदि।

इस सूत्र के अनेक अपवाद कोषग्रन्थों में पाये जाते हैं।

[६५] सीरार्थोदनाः पुंसि ॥

सीर (हल), अर्थ (धन) और ओदन शब्द पुलिङ्ग में पाये जाते हैं। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। सीरः। अर्थाः **पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्** (हितोप० १.१५५)। ओदनः।

[६६] लोपधः ॥

अदन्त लकारोपध शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। यथा—कुलम्। कूलम् (किनारा)। स्थलम्। आदि। इस के कई अपवादस्थल हैं। यथा—तूल, उपल (पत्थर), ताल, कुसूल (धान्यसंग्रहस्थान), कम्बल, वृषल आदि कई शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

[६७] शतादिः संख्या ॥

संख्या या संख्येय अर्थ में वर्त्तमान शत आदि संख्याएं नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होती हैं। यथा—शतं जनाः। जनानां शतम्। सहस्रं जनाः। जनानां सहस्रम्। इत्यादि।

[६८] शतायुत-प्रयुताः पुंसि च ॥

शत, अयुत (दस हजार), प्रयुत (दस लाख)—ये संख्याएं पुंलिङ्ग में भी प्रयुक्त होती हैं। पूर्वसूत्रानुसार नपुंसकत्व के प्राप्त होने पर पुंलिङ्ग का भी विधान किया गया है। शतोऽयम्, इदं शतम्। अयुतोऽयम्, इदम् अयुतम्। प्रयुतोऽयम्, इदम्प्रयुतम्।

---

१. दृश् और दृष्टि शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

२. अटवी और अरण्यानी शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

३. धनवाची रै शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है।

[६९] **लक्षा कोटिः स्त्रियाम्** ।।

लक्षा (लाख) और कोटि (करोड़) शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। यह सूत्र **शतादिः संख्या** सूत्र का अपवाद है। इन का एक सुभाषित में प्रयोग यथा—

कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षापि कोटिरपि कियती ।
औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती ।।

(सुभाषितरत्न० पृष्ठ ७०)

अमरकोषादियों में लक्षशब्द को नपुंसक भी माना गया है।

[७०] **शङ्कुः पुंसि** ।।

शङ्कु (सौ खरब) शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यह भी **शतादिः संख्या** सूत्र का अपवाद है। शङ्कुरयम् ।

[७१] **मन्द्व्यच्कोऽकर्त्तरि** ।।

दो अचों वाला मन्प्रत्ययान्त शब्द जो कर्तृवाची न हो वह नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यथा—इदं वर्म। इदं चर्म। 'द्व्यच्क' इसलिये कहा है कि दो से अधिक अचों वाले शब्दों में इस की प्रवृत्ति न हो। यथा—अणोर्भावः—अणिमा, लघोर्भावः—लघिमा, महतो भावः—महिमा। ये सब पूर्वोक्त **नान्तः** (लिङ्गा० २६) सूत्र से पुंलिङ्ग हैं। प्रयोग यथा—**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः** (ऋग्वेद १०.९०:३)। 'अकर्त्तरि' इसलिये कहा है कि—ददातीति दामा (मनिन्प्रत्यय) इत्यादियों में नपुंसकत्व न हो।

[७२] **ब्रह्मन् पुंसि च** ।।

ब्रह्मन्शब्द नपुंसक के अतिरिक्त पुंलिङ्ग में भी देखा जाता है। यहां व्यवस्थितविभाषा समझनी चाहिये। चतुरानन (ब्रह्माजी) के अर्थ में यह पुंलिङ्ग तथा अन्यत्र परमात्मा आदि अर्थों में इसे नपुंसक समझना चाहिये। ब्रह्मा विधाता चतुर्मुखः। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** ।

[७३] **असन्तो द्व्यच्कः** ।।

दो अचों वाला अस्-अन्त शब्द नपुंसक होता है। यथा—यशः। तपः। पयः। मनः आदि। 'द्व्यच्क' कथन के कारण 'चन्द्रमाः' आदि में नहीं होता। वह पुंलिङ्ग है। 'वेधस्' शब्द पूर्वोक्त **देवासुर०** (लिङ्गा० २५) सूत्र से पुंलिङ्ग समझना चाहिये। कुछ लोग इस सूत्र में भी 'अकर्तरि' पद का अनुवर्त्तन कर 'विदधातीति वेधाः' इस तरह परिहार करते हैं।

[७४] **अप्सराः स्त्रियाम्** ।।

अप्सरस्-शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यह शब्द प्रयोग में प्रायः बहुवचनान्त देखा जाता है। इमा अप्सरसः। कहीं कही एकवचनान्त भी प्रयुक्त होता है—उर्वशी नामाप्सराः।

[७५] **त्रान्तः** ।।

'त्र' शब्द जिस के अन्त में हो वह नपुंसकलिङ्ग होता है। यथा—छत्त्रम्, पत्त्रम्, पात्त्रम्, दात्रम्, नेत्रम् आदि।

[७६] **यात्रा-मात्रा-भस्त्रा-दंष्ट्रा-वरत्राः स्त्रियामेव ॥**

यात्रा, मात्रा, भस्त्रा (धौंकनी), दंष्ट्रा (दाढ़), वरत्रा (चमड़े की पेटी जो घोड़े आदि की छाती के नीचे बान्धी जाती हैं)—ये पाञ्च शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। पूर्वोक्त **त्रान्तः** (७५) सूत्र का यह अपवाद है। इयं यात्रा। इयं मात्रा। भस्त्रेयस्। दंष्ट्रेयम्[1]। वरत्रेयम्।

[७७] **भृत्राऽमित्रच्छात्त्र-पुत्त्र-यन्त्र-वृत्र-मेढ्रोष्ट्राः पुंसि ॥**

भृत्र (?), अमित्र (शत्रु), छात्त्र, पुत्त्र, यन्त्र वृत्र (मेघ आदि), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) और उष्ट्र (ऊँट)—ये शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यह भी **त्रान्तः** (७५) सूत्र का अपवाद है। अयम्भृत्रः। न मित्रम्—अमित्रः (शत्रु)। तत्पुरुष-समास में परवल्लिङ्गता का प्रकृतसूत्र से बाध हो जाता है। **तस्य मित्राण्यमित्रास्ते** (माघ २.१०१)। छात्त्रोऽयम्। यन्त्रोऽयम। **को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः।** मेढ्रोऽयम्। उष्ट्रोऽयम्। भृत्र और पुंलिङ्ग यन्त्र शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय है।

[७८] **बल-कुसुम-शुल्व-पत्तन-रणाभिधानानि ॥**

बल आदि के वाचक शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

बलवाची यथा—बलम्, सहः (सहस्) वीर्यम् आदि।[2]

पुष्पवाची यथा—पुष्पम्, कुसुमम्, प्रसूनम् आदि।

ताम्रवाची यथा—ताम्रम्, शुल्वम्, म्लेच्छमुखम् आदि।

नगरवाची यथा—पत्तनम्, नगरम्, पुरम् आदि।[3]

रणवाची यथा—रणम्, युद्धम्, जन्यम्, मृधम् आदि।[4]

[७९] **फलजातिः ॥**

फलजातिवाचक शब्द नपुंसक होते हैं। यथा—आमलकम्। आम्रम्। कुछेक

---

१. दंष्ट्राशब्द **दाम्नीशस०** (८४४) सूत्रद्वारा ष्ट्रन्प्रत्ययान्त सिद्ध होता है। परन्तु षित्त्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् के प्राप्त होने पर अजादिगण में पाठ के कारण उस का बाध हो कर टाप् हो जाता है। उपर्युक्त सूत्र में 'दंष्ट्रा' का पाठ भी टाप् करने में ज्ञापक हो सकता है।

२. इस के कई अपवादस्थल भी हैं। यथा—पराक्रमः (पुं०), शक्तिः (स्त्री०)।

३. नगरवाची पुर् और नगरी शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। नगरविशेषवाची यथाश्रुत-लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—कान्यकुब्जः, मथुरा, काशी, पाटलिपुत्रम् आदि।

४. युद्धवाची कई शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—संग्रामः, आहवः आदि। कुछ स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं। यथा—आजिः, संयत्, युत् (युध्) आदि।

शब्द अन्य लिङ्गों में भी प्रयुक्त देखे जाते हैं। यथा—हरीतकी। जाम्बवम्।

[८०] **वृक्षजातिः स्त्रियामेव ॥**

वृक्षजातिवाचक शब्द (क्वचित्) स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा—हरीतकी (हरड़ का पेड़), आमलकी (आमले का पेड़)।

[८१] **वियज्जगत्-शकृत्-शकन्-पृषद्-यकृदुदश्वितः ॥**

वियत् (आकाश), जगत्, शकृत् (विष्ठा), शकन् (?), पृषत् (विन्दु), यकृत् (जिगर) और उदश्वित् (छाछ, मठा)—ये सात शब्द नपुंसक होते हैं। तारकितं वियत्। इत्यादि।

[८२] **नवनीताऽवतानाऽनृताऽमृत-निमित्त-वित्त-चित्त-व्रत-रजत-वृत्त-पलितानि ॥**

नवनीत (माखन), अवतान (चँदोआ), अनृत, (झूठ) अमृत, निमित्त, वित्त (धन), चित्त, व्रत, रजत (चान्दी), वृत्त (वृत्तान्त) और पलित (वृद्धत्वजन्य श्वेतता)। ये शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। **नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं च किं तेन। आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव ॥** इत्यादि।

[इति नपुंसकलिङ्गाधिकारः]

[८३] **स्त्रीपुंसयोः ॥**

यह अधिकारसूत्र है। अब यहां से आगे जो शब्द कहेंगे वे स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग अर्थात् दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होंगे।

[८४] **गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः ॥**

गो आदि दस शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। गोशब्द बैल अर्थ में पुंलिङ्ग तथा गाय अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है। अयं गौः। गौरियम्। इयं मणिः। अयं मणिः। यष्टि (छड़ी) शब्द स्त्रीलिङ्ग में तो उपलब्ध है परन्तु इस के पुंलिङ्ग में प्रयोग मृग्य हैं। अयं मुष्टिः, इयं मुष्टिः (मुट्ठी)। पाटलि (श्वेतरक्त पुष्पविशेष) शब्द को कोषकारों ने स्त्रीलिङ्ग ही माना है। पुंलिङ्ग में प्रयोग अन्वेषणीय है। इयं बस्तिः, अयं बस्तिः (मूत्राशय)। शाल्मलिरयम्, शाल्मलि शब्द पुंलिङ्ग में ही देखा जाता है। त्रुटि (लव, लेश, कण आदि) शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त मिलता है। मसि (स्याही) शब्द दोनों लिङ्गों में उपलब्ध होता है। मरीचि (किरण) शब्द उभयलिङ्ग है, बहुधा बहुवचनान्त देखा जाता है।

[८५] **मृत्यु-शीधु-कर्कन्धु-कण्डु-रेणवः ॥**

मृत्यु (मौत), शीधु (मद्य), कर्कन्धु (बेर), कण्डु (खारिश) और रेणु (धूलि)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। इयं मृत्युः, अयं मृत्युः। इयं शीधुः। अयं शीधुः। इयं कर्कन्धुः, अयं कर्कन्धुः। इयं कण्डुः, अयं कण्डुः। इयं रेणुः, अयं रेणुः। कर्कन्धुः और कण्डु से स्त्रीत्वपक्ष में **अप्राणिजातेश्चाऽरज्ज्वादीनामिति वक्तव्यम्** (वा०) वार्त्तिक से ऊङ् प्रत्यय हो कर—कर्कन्धूः, कण्डूः भी बनेगा।

[८६] **गुणवचनमुकारान्तं नपुंसके च ॥**

उकारान्त गुणवाची शब्द स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग अर्थात् तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। यथा—पटुरयं छात्रः, पट्वीयं कन्या, पटुविदं कुलम्।

[८७] **अपत्यार्थस्तद्धिते ॥**

अपत्यार्थ में विहित जो तद्धितप्रत्यय तदन्त शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। यथा—उपगोरपत्यम् (पुमान्) औपगवः। उपगोरपत्यं (स्त्री) औपगवी। गार्ग्यः, गार्गी। इत्यादि।

[इति स्त्रीपुंसाधिकारः]

[८८] **पुन्नपुंसकयोः ॥**

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे जो शब्द कहेंगे वे पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

[८९] **घृत-सूत-मुस्त-क्ष्वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः ॥**

घृत, सूत आदि शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

घृतशब्द अर्धर्चादिगण में भी पढ़ा गया है। लोक में यह शब्द नपुंसकलिङ्ग में ही देखा जाता है। आयुर्वै घृतम्। पुंलिङ्ग में इस के प्रयोग वेद में ही उपलब्ध होते हैं। जैसा कि अमरकोष में कहा है—**अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम्।**

सूतशब्द पारद अर्थ में पुन्नपुंसक है। सारथि अर्थ में पुंलिङ्ग है।

मुस्त (नागरमोथा) शब्द पुंनपुंसक के साथ साथ स्त्रीलिङ्ग में भी देखा जाता है। मुस्तः, मुस्तम्, मुस्ता।

क्ष्वेलित या क्ष्वेडित शब्द सिंहगर्जन एवं संग्रामघोष अर्थों में पुन्नपुंसक है।

ऐरावतशब्द इन्द्र के हाथी के अर्थ में पुंलिङ्ग प्रसिद्ध है।

पुस्तकशब्द प्रायेण नपुंसकलिङ्ग है परन्तु क्वचित् पुंलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है।[1]

बुस्तः, बुस्तम्। फलादि के ऊपर के छिलके को बुस्त कहते हैं।

लोहितशब्द रुधिर अर्थ में नपुंसक तथा मङ्गलग्रह के अर्थ में पुंलिङ्ग है।

[९०] **कबन्धौषधाऽऽयुधान्ताः ॥**

कबन्ध (सिरकटा चेष्टायुक्त देह)[2], औषध, आयुध (शस्त्र) और अन्त (मौत)—ये शब्द पुन्नपुंसक हैं। कबन्धः, कबन्धम्। औषधशब्द नपुंसक में ही उपलब्ध होता है—औषधम्। आयुधम्। आयुधशब्द के पुंलिङ्ग में प्रयोग मृग्य हैं—**आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्** इत्यमरः। अन्तः, अन्तम्—**अथाऽस्त्रियामन्त** इत्यमरः।

---

१. **अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः।** (पञ्चतन्त्रे, द्वितीयतन्त्रे)

२. **कबन्धोऽस्त्री चेष्टायुक्तमपमूर्धकलेवरम्** इत्यमरः।

[६१] **दण्ड-मण्ड-खण्ड-शव-सैन्धव-पार्श्वाकाश-कुश-काशाऽङ्कुश-कुलिशाः ॥**

दण्ड आदि ग्यारह शब्द पुन्नपुंसक होते हैं। दण्डः, दण्डम्। मण्डः, मण्डम्। खण्डः, खण्डम्। शवः, शवम् (**कुणपः शवमस्त्रियाम्**—इत्यमरः)। सैन्धवशब्द घोड़े के अर्थ में पुंलिङ्ग तथा लवण अर्थ में पुन्नपुंसक है। पार्श्वः, पार्श्वम्—**बाहुमूले उभौ कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः** इत्यमरः। आकाशः, आकाशम्—**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** (तै० उप० २.१); **शब्दगुणकमाकाशम्** (तर्कसंग्रह)। कुशः, कुशम्। काशः, काशम्। अङ्कुशः, अङ्कुशम्—**अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्**—इत्यमरः। कुलिशः, कुलिशम् (इन्द्र का वज्र)।

[६२] **गृह-मेह-देह-पट्ट-पटहाऽष्टापदाऽम्बुद-ककुदाश्च ॥**

गृह आदि आठ शब्द पुन्नपुंसक होते हैं। गृहशब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग अन्वेषणीय है, लोक में नपुंसक-प्रयोग उपलब्ध होते हैं—**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते** (पञ्चतन्त्रे)। मेह (मूत्र) शब्द के पुंलिङ्ग में ही प्रयोग मिलते हैं। देहः, देहम्। ललाटपट्टः, ललाटपट्टम्। पटहः, पुंलिङ्ग उपलब्ध होता है। अष्टापदः, अष्टापदम् (सुवर्ण)। अम्बुद (मेघ) शब्द पुंलिङ्ग में ही देखा जाता है[१]। ककुदः, ककुदम् (बैल का कुहान, पर्वतशृङ्ग)। इस का श्रेष्ठ अर्थ में भी प्रयोग हुआ करता है—**इक्ष्वाकुवंशः ककुदं नृपाणाम्** (रघु० ६.७१)।

[इति पुन्नपुंसकाधिकारः]

[६३] **अविशिष्टलिङ्गम् ॥**

अब त्रिलिङ्ग शब्दों का अधिकार चला रहे हैं। यहां से आगे जो जो शब्द कहेंगे वे तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

[६४] **अव्यय-डति-युष्मदस्मदः ॥**

अव्ययशब्द, डतिप्रत्ययान्तशब्द तथा युष्मद् और अस्मद् शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं।

अव्यय यथा—उच्चैस्तरुः लता मन्दिरं वा।
डतिप्रत्ययान्त यथा—कति पुरुषाः स्त्रियो मित्राणि वा।
युष्मद् यथा—त्वं पुमान्। त्वं स्त्री। त्वं मित्रम्।
अस्मद् यथा—अहम्पुमान्। अहं स्त्री। अहं मित्रम्।

[६५] **ष्णान्ता संख्या ॥**

षकारान्त एवं नकारान्त संख्यावाची शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं।
षकारान्त यथा—षट् पुरुषाः। षट् स्त्रियः। षड् मित्राणि।
नकारान्त यथा—पञ्च पुरुषाः। पञ्च स्त्रियः। पञ्च मित्राणि।

---

१. कई लोग इस सूत्र में 'अम्बुद' के स्थान पर 'अर्बुद' (दस करोड़) शब्द का पाठ मानते हैं। अर्बुदः, अर्बुदम्।

[९६] **शिष्टा संख्या परवत् ॥**

षकारान्त और नकारान्त संख्या से भिन्न संख्यावाची शब्द विशेष्य के लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—एको बालः। एका कन्या। एकं मित्रम्। द्वौ बालौ। द्वे कन्ये। द्वे मित्रे। त्रयो बालाः। तिस्रः कन्याः। त्रीणि मित्राणि। चत्वारो बालाः। चतस्रः कन्याः। चत्वारि मित्राणि। विंशति आदि संख्याओं के विषय में पहले कह चुके हैं।

[९७] **गुणवचनं च ॥**

गुणवाचकशब्द जब गुणिपरक होते हैं तो वे त्रिलिङ्ग अर्थात् विशेष्यनिघ्न होते हैं। यथा—शुक्लः पटः। शुक्ला शाटिका। शुक्लं वस्त्रम्। मृदुः पुरुषः। मृदुः (मृद्वी) माला। मृदु पुष्पम्। यदि गुणपरक हों तो पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। यथा—शुक्लः। अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति।**

[९८] **कृत्याश्च ॥**

कृत्यप्रत्ययान्तशब्द विशेष्यनिघ्न अर्थात् विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—पठितव्यो ग्रन्थः। पठितव्या स्तुतिः। पठितव्यं पुस्तकम्।

[९९] **करणाधिकरणयोर्ल्युट् ॥**

करण तथा अधिकरण में हुआ जो ल्युट् प्रत्यय, तदन्त शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करते हैं।

करणे ल्युट्—पलाशशातनः कुठारः। पलाशशातनी कुठारिका। पलाशशातनं कुठारमण्डलम्।

अधिकरणे ल्युट्—सक्तुधानो घटः। सक्तुधानी घटी। सक्तुधानं पात्रम्।

[१००] **सर्वादीनि सर्वनामानि ॥**

सर्व आदि सर्वनामसंज्ञक शब्द विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों को धारण कर लेते हैं। यथा—

अयं पुमान्। इयं स्त्री। इदं मित्रम्। स नरः। सा नारी। तद् मित्रम्। इत्यादि।

पाणिनीये महातन्त्रे लिङ्गशास्त्रानुशासने।
भैमीव्याख्यासमायुक्तं सूत्राणां शतकं गतम् ॥

भू-न-वेद-ख-पक्षेऽब्दे वैक्रमे शुभवत्सरे।
रविवारे नवम्याञ्च पौषमासाऽसिते दले ॥१॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्यासमन्वितः।
भागः षष्ठः समायातः पूर्तिमीशानुकम्पया ॥२॥

शुभं भूयात्सुरभारतीसमुपासकानाम्

——:०:——

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2009

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि–**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था ।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं–उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है। मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है। पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है। अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं। जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं। 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है। दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया। पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं। नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है। (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है। इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली–हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्रायः सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भाँति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अतः छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे–वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुतः व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छः प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

शोधपूर्ण इस निबन्ध में **'अइउण्'** आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं। ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**-इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है। **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके।